हिन्दी-काव्यकुञ्ज

गजानन्द शर्म्मा एम० ए०

हिन्दी-काव्यकुञ्ज

हिन्दी-काव्यकुञ्ज

संग्रहकर्ता—

गजानन्द शर्मा, एम० ए०

प्रकाशक—

शंकरलाल गुप्त,

देहली

प्रकाशक—
शंकरलाल गुप्त,
देहली

द्वितीय संस्करण १६३४

मुद्रक—
'हिन्दुस्तान टाइम्स' प्रेस,
दिल्ली

विषय-सूची

भूमिका

समालोचनात्मक ढंग से किसी भाषा के कवियों की उत्कृष्ट कविताओं को एक स्थान पर एकत्रित करके प्रकाशित करना आधुनिक उन्नति के युग में अति आवश्यक तथा लाभदायक है। जो पण्डित तथा विद्या-व्यसनी हैं, वे किसी विशेष भाषा के साहित्य का समुचित अध्ययन कर सकते हैं, परन्तु सर्वसाधारण को पेट भरने के लिये काम-धन्धा करते हुए इतना समय कहाँ मिल सकता है कि साहित्य के अङ्ग-प्रत्यङ्ग का पूर्ण आनन्द उठा सकें। उनके लिये तो यही पर्याप्त है कि कविता या साहित्य की अन्य किसी शाखा के सुन्दर और कोमल पल्लव एकत्रित करके उनके सामने पुस्तक के रूप में पहुँच जावें, जिनका अवलोकन तथा अध्ययन फ़ुरसत के समय में करके वे साहित्य का आनन्द उठा सकें। गद्य या पद्य संग्रहों की यह पहली उपयोगिता है। दूसरी उपयोगिता यह है कि किसी लेखक की सारी कृतियाँ ही उच्च तथा सुन्दर नहीं होतीं। अनाज के दानों के साथ में भूसा भी मिला रहता है। कई स्थानों में

तो भूसा इतना अधिक दिखाई देता है कि लोग अनाज के दानों पर दृष्टिपात् करना ही छोड़ देते हैं। इस बात का विचार करते समय हमारे सामने हमारे केशवदास का उदाहरण स्पष्ट रीति से आ जाता है। केशवदास की कविता पर उतनी ही पालिश है तथा वह रीति-बन्धनों से उतनी ही जकड़ी हुई है जितनी अंग्रेज़ी भाषा में पोप तथा उसके अनुयायियों की। आजकल अंग्रेज़ी में शेक्सपीयर, वर्डसवर्थ, शैली आदि की कविताओं को लोग बड़े चाव से पढ़ते हैं किन्तु सर्वसाधारण में काव्य-संग्रहों में एकत्रित उसकी कविताओं के अतिरिक्त कौन पोप को इतने चाव से पढ़ेगा। ऐसे स्थलों पर कवि के नाम को अमर बनाये रखने के लिये संग्रह ही सहायता देते हैं। यदि केशवदास को संग्रहों में स्थान न दिया जावे तो सूरदास, तुलसीदास, कबीर और रहीम, वृन्द तथा भूषण आदि के सामने कौन उनके काव्य-ग्रन्थों को ख़रीद कर पढ़ने का कष्ट उठायेगा? मैथ्यू आर्नाल्ड के कथानानुसार बहुत से कवियों की चन्द्रिका केवल संग्रहों में ही छिटकती है। जिन कवियों की कृतियों में उच्च कोटि के तथा साधारण गुणों का अनमेल सम्मिश्रण होता है उनके लिये तो संग्रह-रीति बहुत ही आवश्यक है। साहित्यिक संग्रहों की तीसरी उपयोगिता विद्यार्थियों के लिये होती है। शिक्षा-शास्त्र-विशेषज्ञों में साहित्य के अध्ययन के विषय में दो मत हैं। एक मतानुसार स्कूल तथा कालिजों में भिन्न-भिन्न लेखकों के संग्रह नियुक्त करके सभी प्रसिद्ध लेखकों का विद्यार्थियों को थोड़ा थोड़ा ज्ञान करा देना चाहिये।

दूसरे मत के परिपोषकों की धारणा है कि सभी लेखकों का थोड़ा-थोड़ा अध्ययन कराने की अपेक्षा यह अधिक लाभदायक होगा कि विद्यार्थी को किसी एक लेखक का समुचित अध्ययन कराके उसे उसमें विशेषज्ञ बनाया जावे। एक लेखक या साहित्य की किसी विशेष काल की प्रगति का विशेषज्ञ होना, हमारे विचार में उच्चातिउच्च शिक्षा से सम्बन्ध रखता है। साधारण स्कूल या यूनिवर्सिटी विद्यार्थियों के लिये तो यही उपयुक्त होगा कि उन्हें किसी खास भाषा के साहित्य के लेखकों का कामचलाऊ ज्ञान हो जाय। यह बात संग्रहों के पक्ष में एक ज़ोरदार प्रमाण है।

अंग्रेज़ी भाषा में संग्रहों की उपयोगिता बहुत पहले ही समझ ली गई थी। अठारहवीं शताब्दी में विशप परसी ने Relipues of Ancient English Poetry नामक संग्रह प्रकाशित करके बहुत सी बहुमूल्य कविताओं को नाश के गर्त में पड़ने से बचाकर लोगों की रुचि पुरानी काव्य-मय गाथाओं की ओर आकर्षित की। पाल्ग्रेव की Goldeu treasury तथा पश्चात् की संग्रहीत Oxford Book of English Verse तथा Oxford Book of English Prose वहुत प्रसिद्ध संग्रह हैं। हमारी हिन्दी भाषा में कविता-संग्रह प्रकाशन की रीति अभी नई है। समालोचनात्मक ढंग से संग्रह करने में मिश्र-बन्धुओं ने भगीरथ प्रयत्न किया है। उनका मिश्र-बन्धु-विनोद प्रथम समालोचनात्मक संग्रह कहा जा सकता है। परन्तु मिश्र-बन्धुओं का ग्रन्थ एक कविता-संग्रह

होते हुए वास्तव में हिन्दी-साहित्य के इतिहास के क्षेत्र में एक बिशाल आयोजन है। उससे वह कमी पूरी नहीं हो सकती जो कि एक संग्रह कर सकता है। सर्व-साधारण के लिये अत्यन्त उपयोगी, विद्वत्तापूर्ण तथा सुरुचि-सम्पन्न कविता-संग्रह प्रकाशित करने का श्रेय पं० रामनरेश त्रिपाठी को है। उनकी कविता-कौमुदी संग्रह गुणों में अच्छे से अच्छे अंग्रेज़ी संग्रहों से टक्कर ले सकती है।

प्रस्तुत पुस्तक साधारणतया सर्व साधारण के हितार्थ परन्तु विशेषतया स्कूलों की उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिये संग्रहीत की गई है। यही विचार करके यथा सम्भव शृङ्गार रस को इस संग्रह में स्थान नहीं दिया गया है। और प्रान्तों की अपेक्षा देहली में स्कूल के विद्यार्थियों की रुचि हिंदी की ओर कम है। परन्तु प्रसन्नता की बात है कि बोर्ड आफ सेकन्डेरी एजूकेशन ने देशी भाषाओं को स्कूल-शिक्षा का एक मुख्य बिषय बना दिया है। अब विद्यार्थियों को भी उचित है कि हिंदी भाषा बिषय को खिलौना न समझ कर उसका भी अध्ययन इतने ही ध्यान पूर्वक करें जितना कि अन्य मुख्य विषयों का। अध्यापकों को भी चाहिये कि पाठन का ऐसा ढंग उपयोग करें जिससे कि परीक्षार्थ पाठ्य पुस्तकों में संग्रहीत चीजों से ही विद्यार्थी सन्तुष्ट न हो किन्तु उन लेखकों का अधिक ज्ञान प्राप्त करने की उत्कण्ठा उसमें उत्पन्न हो जाय। हिन्दी में उपदेशात्मक कविता की कमी नहीं। भक्ति,

नीति, वीर, श्रृङ्गार तथा अन्य प्रायः सभी रसों की कविता के साथ उपदेश की कुछ न कुछ चाशं मिली रहती है। उपदेशात्मक कविता को हम उच्चकोटि की कविता नहीं कह सकते, परन्तु ऐसी कविता के स्कूल के विद्यार्थियों के लिये उपयोगी होने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता। परन्तु कविता का क्षेत्र बहुत व्यापक है। इस संग्रह में यह ध्यान रखा गया है कि यथा सम्भव उन सभी रसों का थोड़ा-थोड़ा समावेश कर दिया जावे जिनको कि स्कूल के विद्यार्थियों के सामने लाया जा सकता हैं। सूरदास के भक्त्यात्मक पदों के साथ ही साथ उनको कृष्ण की बाल-लीला के पदों का नमूना भी पेश कर दिया गया है। आधुनिक छायावाद के कवियों में श्रीयुत जयशङ्कर 'प्रसाद' तथा सुमित्रा-नन्दन पन्त के नाम विशेष उल्लेख योग्य हैं। 'प्रसाद' जी की कविता बड़ी गूढ़ होती है, स्कूल के विद्यार्थियों के लिए उसका समझना सुगम नहीं, अतः उनकी एक सुगम से सुगम कविता दे दी गई है। पन्त जी की कई कविताओं में बाल्योचित सरलपन की स्पष्ट झलक है। उनकी कविताओं में से तीन कविताएं इस संग्रह में दी जाती हैं। आशा है पाठक इन कविताओं को पढ़ कर बेजा बदनाम छायावाद के महत्व को समझने का प्रयत्न करेंगे। 'रत्नाकर' जी वयोवृद्ध होते हुए वयोवृद्धा भाषा में किस सफलता के साथ कविता करते हैं, यह पाठकों को उनके गङ्गावतरण तथा हरिश्चन्द्र से उद्धृत 'श्मशान का दृश्य' पढ़ने से प्रतीत होजायगा। किसी भो भाषा की वर्णनात्मक

कविताओं में उच्च से उच्च कविता के साथ रत्नाकर जी की 'श्मशान का दृश्य' का मुकाबला किया जा सकता है।

संग्रह का काम बड़ा कठिन है। एक कहावत है कि मन अमीरों सा, तन फकीरों सा। हमारे सामने फूलों का मैदान तो बड़ा विस्तृत, परन्तु हमारी झोली छोटी सो। सौ पृष्ठों की पुस्तक के अन्दर जितना आसकता था, उतना एकत्रित कर दिया। अज्ञानतावश या स्थानाभाव के कारण हमने बहुत से सुरभित-पुष्पित-पल्लवित वृक्षों की ओर देखा भी नहीं। इच्छा थी कि सभी मनोहर वृक्षों में से कुछ-कुछ फूल तोड़ कर इस गुलदस्ते में लगादें परन्तु,

नर चाही हर ना करे, हर चाहो तत्काल।
बलि चाही आकाश को, भेज दियो पाताल॥

आशा है, पाठक तथा विद्यार्थीगण इस संग्रह को पढ़ कर हिन्दी कविता के अध्ययन की ओर विशेष रुचि बढ़ावेंगे।

हम अपने परम मित्र पं० दशरथ ओझा के अत्यन्त आभारी हैं। दशरथ जी बड़े होनहार तथा हिन्दी-साहित्य की माधुरी का वास्तविक रसास्वादन करने वाले हैं। उन्होंने इसी पुस्तक में अन्यत्र प्रकाशित हिन्दी-काव्य का परिचय लिखकर जो बाग़ पाठकों को दिखलाया है, आशा, है वह बहुत आनन्ददायी प्रतीत होगा। यदि ओझा जी मेरी भरपूर सहायता न करते तो ऐसा संग्रह प्रकाशित करने का मेरा विचार समयाभाव से अभी कार्य रूप में

बहुत देर में परणित होता। कविताओं के चुनने में यदि कुछ सुरुचि का आभास है तो उसका अधिकतर श्रेय ओझा जी को ही है।

अन्त में हम अपने आधुनिक कविगण श्रद्धेय श्री पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर,' श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय, ठाकुर गोपालशरणसिंह, बाबू जयशङ्कर प्रसाद, बाबू मैथिलीशरण गुप्त, श्री पं० कामता प्रसाद गुरु, सय्यद अमीर अली 'मीर,' श्री पं० रामनरेश त्रिपाठी, श्री सुमित्रानन्दन पन्त, श्री रामचन्द्र शुक्ल, श्री दीनानाथ आदि के हृदय से कृतज्ञ हैं। उनकी कविताओं के बिना यह सग्रह पुराने कवियों पर ही निर्भर रहने के कारण अधूरा तथा कुरूप सा ही रहता।

देहली
सितम्बर १९३१

गजानन्द शर्मा एम० ए०

हिन्दी काव्य-परिचय

कविता क्या है ? कविता मनुष्य के हृद्तंत्री की झंकार है; मानव-हृदय-मानस में अन्तरङ्ग तथा वहिरङ्ग प्रभावोद्भूत, विविध तरङ्गों के उत्थान-पतन तथा सम्मिलन-संघर्षण से जिस मधुर सङ्गीत की सृष्टि होती है, उसे कविता कहते हैं, और उस सङ्गीत से मुग्ध होने वाला कवि कहलाता है । नित प्रति घटित होने वाली साधारण घटनाओं में भी कवि अपनी प्रतिभा से वह चमत्कार पैदा कर देता है जिसे सुनकर हम आश्चर्य-चकित हो जाते हैं । प्रियतम कुसुमाकार के आगमन से आन्दोलन्मत्त हो कोकिला जब रसाल की मंजरी-भार से नत डाली पर उछल उछलकर गाने लगती है तो कवि की हृदय-वीणा स्वतः झंकृत हो उठती है; पूर्ण चन्द्र की सुधा

मयी किरणें जब निर्मल जल वाहिनी सरिता की तरङ्गों के साथ क्रीड़ा करती हुई स्वर्गिक मणि राशि उनके प्राँगण में बिखेरनी लगती हैं, तो कवि की आँखें अलौकिक ज्योति से परिपूर्ण हो जाती हैं; मेघ-राशि की घनघोर घटा से रीझकर मोर जब नर्तन करने लगता है तो कवि का मन-मयूर स्वतः नाच उठता है; निर्झर के अजस्र झरझर और हवा के झूले में झूलते हुए विकसित पुष्पों के साथ कलोल करने वाले भ्रमर की मधुर गुँजार से कवि के हृदय में अकथ आनन्द का संचार होने लगता है । तात्पर्य यह कि कवि के श्रवनों में लोकोत्तर श्रवन शक्ति और नयनों में विलक्षण ज्योति होती है ।

हिन्दी कविता का इतिहास

कविता के विस्तृत कुंज में भाव-स्वर की लहरी लहराता हुआ कवि सदैव विचरण करता रहता है । हिन्दी कविता-कुञ्ज जो आज इतना पल्लवित और सुरभित दृष्टि गोचर हो रहा है, वह आज से एक सहस्र वर्ष पूर्व बिल्कुल वीरान था । अगणित कवियों तथा महात्माओं ने इस कुञ्ज को अपने रक्त-जल से सिंचित कर और निज अस्थियों की खाद से उपजाऊ बनाकर पल्लवित किया है । इस कुञ्ज का सबसे प्राचीन वृक्ष चन्द-बरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' है । कुछ विद्वानों के विचारानुसार इस कुञ्ज में इससे भी प्राचीन छोटे-मोटे वृक्ष थे, किन्तु हमें आज बहुत अनुसन्धान करने पर भी उनकी जड़ तक का पता नहीं मिलता; किन्तु एक बात अवश्य विचारणीय

है। पृथ्वीराज रासो की कविता इतनी सुन्दर है इतनी भाव-पूर्ण है कि किसी भी भाषा में इतनी उत्तम कविता एक बारगी प्रारम्भ में ही नहीं लिखी जा सकती। इससे सिद्ध होता है कि चन्दबरदाई के पूर्व भी हिन्दी भाषा में कविता होती रही, किन्तु वह अतीत के गर्भ में निहित हो गई। कवि हेमचन्द की उपलब्ध कविता से रासो के छन्दों का मिलान करने से ज्ञात होता है कि चन्दबरदाई के समय में अपभ्रंश शब्दों का प्रचार बहुत कम हो चला था। जैसे :—

भल्ला हुआ जो मारिया, बहिणि महारा कन्तु।
लज्जेज्जतु वयंसिअहु, जइ भग्गा घर एन्तु॥

हेमचन्द

अर्थात्—हे बहिन, अच्छा हुआ जो मेरा पति मारा गया ! यदि वह भागकर घर आता तो मैं सखियों में लज्जित होती।

जोति भई पृथीराज की,
पकरि साह लै संग।
दिल्ली दिसि मारग लग्यौ,
उतरि घाट गिर गङ्ग।

चन्दबरदाई

चन्दबरदाई पृथ्वीराज का राजकवि था। पृथ्वीराज के राजत्व काल में शान्त भारत मुसलमानों के निरन्तर आक्रमण से उद्विग्न हो उठा था। उस समय देश को ऐसे कवियों की आवश्यकता थी, जो

खड्ग-संचालन में उतने ही सिद्ध-हस्त हों जितने लेखनी चलाने में प्रवीण। जनता ने उन्हीं का सत्कार किया जिनमें बाहु-बल और बुद्धि बल दोनों का सामञ्जस्य था। इसी कारण आजतक जगनिक, चन्दबरदाई आदि योद्धा कवियों की स्मृति को क्रूर काल भी न मिटा सका और अन्य कवि अतीत के गर्भ में अन्तर्निहित हो गये।

सम्वत् १०५० से १३५० तक योद्धा कवियों ने इस वीरान कुञ्ज के एक भाग को वृक्षावली से सुसज्जित किया। इतने समय में मुसल्मानों का आधिपत्य उत्तरी भारत में एक प्रकार से पूर्ण रूप से स्थापित हो गया था। हिन्दू और मुसलमान एक स्थान पर एकत्र निवास करने लग गए थे। अब आवश्यकता थी ऐसे महात्माओं की, जो दो विभिन्न संस्कृति और सभ्यता वाली जातियों को प्रेम-सूत्र से बाँध सकें; उनके हृदयों से बैमनस्य मिटाकर रिक्त स्थान को स्नेह परिपूरित कर सकें। राष्ट्र में उक्त त्रुटि को दूर करने के लिए कबीरदास गुरु नानक जी, दादू दयाल प्रभृति महात्मा आविर्भूत हुए। उक्त महात्माओं ने ज्ञान का आश्रय लेकर हिन्दू मुसलमानों के जातिगत् दोषों का नग्न स्वरूप उनके समक्ष खड़ा करके कटु शब्दों में टीका-टिप्पणी प्रारम्भ की। कबीर कहते हैं :—

अरे इन दोउन राह न पाई
हिन्दू की हिन्दुवाई देखौ तुरुकन को तुरुकाई।
....
कहै कबीर सुनों भइ साधो, कौन राह ह्वै जाई॥

और सुनिए।

ना जाने तेरा साहिब कैसा है।

मसजिद भीतर मुला पुकारे, क्या साहिब तेरा बहिरा है।
चींटी के पग नेवर बाजे, सो भी साहब सुनता है॥

....

साँच कहै तो मारन धावै, झूठे जग पतियाना।
आतम मारि पखानहिं पूजें, उनमें कछू न ज्ञाना॥
हिन्दू तुरुक की एक राह है, सद्गुरु इहै बताई।
कहै कबीर सुनो हो सन्तो, राम न कहेउ खोदाई॥

किन्तु इन सन्त कवियों का मन्तव्य पूर्ण रूप से सफल न हो सका। पं० रामचन्द्र शुक्लजी लिखते हैं* "इन सन्त कवियों के द्वारा लोक-रञ्जन न हो सका। हिन्दू जनता अपना सर्वस्व गँवा कर भी अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाए रखने की भावना का परित्याग न कर सकी। राम और रहीम को एक बताने वाली बाणी उनके मुरझाए मन को हरा-भरा न कर सकी। हिन्दू महात्माओं ने अपनी सभ्यता, अपने चिर-संचित संस्कार आदि की रक्षा के लिए राम और कृष्ण का आश्रय लिया, और उनकी भक्ति का स्रोत देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैला दिया।"

सत्रहवीं और अठारहवी शताब्दी यवन साम्राज्य का स्वर्ण युग कहलाती है। इस युग में महा प्रतापी अकबर, जहाँगीर और

---

*नागरी प्रचारिणी पत्रिका।

शाहजहाँ के शान्तिपूर्ण राज्य में पूजा की सर्वतोमुखी उन्नति हुई। उक्त बादशाह हिन्दी के बड़े प्रेमी थे, अतः हिन्दी कविता की उन्नति अवश्यम्भावी थी। इसी युग में गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरित-मानस में चिरकाल से संसार सन्तप्त पथिकों को अवगाहन कराया; भक्त शिरोमणि सूरदास जी ने अपने सूर-सागर की एक एक, तरङ्ग से अगणित हिन्दुओं की व्यथाग्नि को शीतल किया।

बाबू श्यामसुन्दरदास जी लिखते हैं "सम्वत् १३५० से १७०० तक का समय हिन्दी का स्वर्ण युग था। इस युग में बड़े-बड़े महात्माओं ने कवि-कार्य स्वीकार करके भगवान के प्रेम में मग्न हो तल्लीनता की अवस्था में हृदय की रागनियों का अमृत वर्षी आलाप किया था। इस काल का साहित्य अलंकारों के अनपेक्षी, शब्द-जाल-शून्य, सत्य की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है; उसमें बाहर से बनाव शृङ्गार करने की चेष्टा नहीं की गई है, जो कुछ है वह आन्तरिक है।"

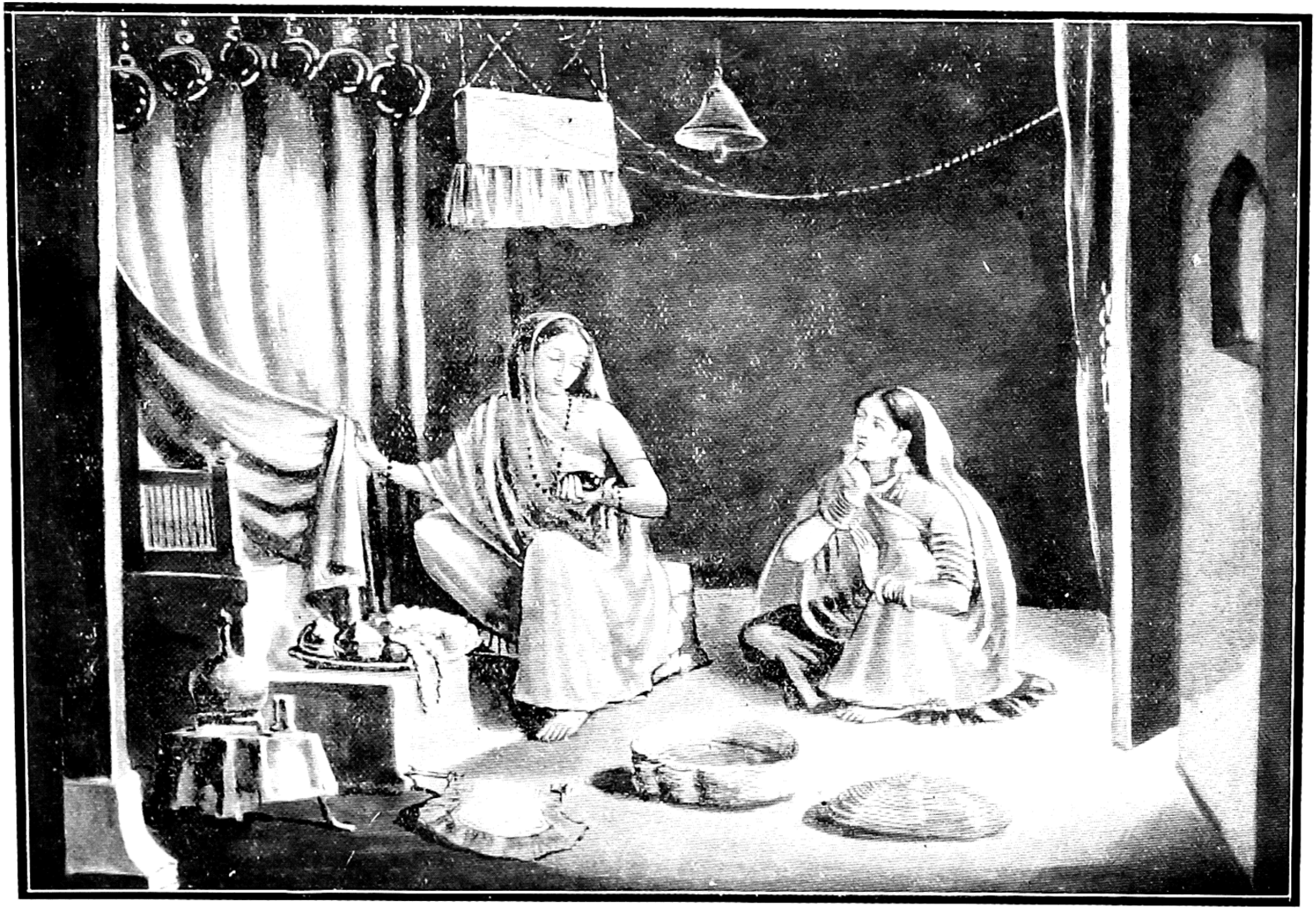
इसके पश्चात् रीति-काल आता है। इस काल में कवियों ने कविता कामिनी का इतना शृङ्गार किया उसका स्वाभाविक सौन्दर्य लुप्तप्रय सा होने लगा। कविता की पवित्र सुरसरि में शृङ्गार रस की इतनी प्रवल वर्षा हुई कि जल गँदला हो गया; अतएव लोगों की रुचि उस ओर से हटने लगी। इसका कारण यह था कि मुग़ल सम्राटों की विलासिता ने हिन्दू राजाओं को निरङ्कुश और विषयी

बना दिया और उन राजाओं के आश्रित कवियों ने अपने स्वामी को प्रसन्न करने के लिए कामोद्दीपक कविता का आश्रय लिया। किन्तु यह अवस्था बहुत दिनों तक न टिक सकी। मुग़ल साम्राज्य के पतन के साथ ही साथ अंग्रेज़ी राज्य का अभ्युदय होने लगा। अंग्रेज़ों ने अपने राज्य को स्थायी करने के साथ साथ अपनी भाषा और पश्चिमी सभ्यता को प्रोत्साहन दिया। भारतीय विलासी नरेश पश्चिम की ज्योति से चका चौंध हो उठे। उनकी निद्रा खुली; भारत में एक नए युग का आगमन हुआ। अंग्रेज़ों ने अपनी भाषा को राज-भाषा बनाया। अब देशीय भाषा के अभिमानी विद्वानों की आँखें खुलीं। देश राष्ट्रीयता की तरङ्गों में बहने लगा। देशी भाषाओं की ओर लोगों की रुचि क्रमशः बढ़ने लगी। भारतेन्दु बाबू ने भारत-दुर्दशा नाटक लिख कर मानो हिन्दी लेखकों को निमंत्रित किया। भाषा की एक शैली निश्चित हुई और खड़ी बोली ने पद्य में भी स्थान पाया। भारतेन्दु ने जिस सड़क का निर्माण प्रारम्भ किया उसे उनके पीछे अयोध्यासिंह, मैथिलीशरण, नाथूराम शंकर प्रभृति कवियों ने ईंट पत्थरों से उसे पक्का करने का उद्योग किया। अब जयशंकर प्रसाद, पं० रामनरेश त्रिपाठी सुमित्रानन्दन पन्त आदि कवि इस सड़क को सुरम्य वृक्षों की शीतल छाया से सुशोभित करने का यत्न कर रहे हैं।

आधुनिक युग प्रतियोगिता का युग है। सर्वत्र प्रतियोगिता का बाज़ार गर्म है। ऐसे समय में वही भाषा उन्नति कर सकती है,

आदरणीय बन सकती है जिसमें मौलिकता, माधुर्य और सौन्दर्य का समिश्रण होगा। आज बंगला भाषा देशीय भाषाओं में सर्वोच्च स्थान पा रही है, यह बंकिम बाबू, शरद बाबू, रवींद्र ठाकुर प्रभृति प्रतिभा शाली विद्वानों के परिश्रम का फल है। हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि कविता का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य है जीवन के गम्भीर तत्वों को सुलझाना तथा हृदयंगम कराना। जब तक हमारी कविता इस उद्देश्य की पूर्ति में सफल न होगी, हम पिछड़े रहेंगे। अब ब्रज भाषा और खड़ी बोली का विवाद समाप्त हो चुका है। खड़ी बोली के विरोधी भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि खड़ी बोली में भी सुन्दर काव्यों की रचना हो सकती है। विशेष कर नवयुवकों की रुचि खड़ी बोली की ओर झुक रही है। अब वह समय दूर नहीं है जब खड़ी बोली में भी महाकाव्य की रचना होगी।

दशरथ ओझा



परम भक्तिमती मीराबाई 'राणा साँप पिटारीमें भेज्यो सालिगराम भयो'

मीरा

[अभी तीन ही शताब्दियाँ व्यतीत हुई, जब भारत में भक्ति का अपूर्व श्रोत बह रहा था। उत्तर में सूर और तुलसी ने, मध्य भारत में मीरा ने और दक्षिण में समर्थ गुरु रामदास ने संसार-संतप्त पराधीन हिन्दू जाति को भक्ति का अमृतपान कराकर सदा के लिये अमर कर दिया। उस समय केवल पुरुषों में ही नहीं वरन् स्त्रियों में भक्ति की वह प्रबल धारा प्रवाहित हो रही थी जिसे सम्राट् भी रोकने में असमर्थ रहा। मीराबाई तो भक्त-शिरोमणि ही समझी जाती है।

अभी तक यही समझा जाता था कि मीरा का जन्म सम्भवतः संवत् १५६० में जोधपुर के राठौर रतनसिंह के घर में हुआ था। किन्तु पं० लक्ष्मीधर जी ने शोध करके अपनी 'हिन्दी भजनावली' में मीरा की जन्म-तिथि सम्वत् १५२७ लिखी है।

राजवंश में जन्म होने के कारण इनका लालन-पालन बड़े चाव से हुआ था।

कभी-कभी एक छोटी-सी घटना हमारे जीवन-प्रवाह के पथ को परिवर्तित कर देती है।

मीरा जब पाँच, छः वर्ष की थीं तो उनके गाँव में एक बरात आई। उनकी एक सहेली का विवाह था। बच्चे कुतूहल-प्रिय होते ही हैं। इन्होंने

वर को देखकर अपनी माता जी से पूछा कि मेरा वर कहाँ है तो उनकी माता ने भगवान् के मन्दिर की ओर संकेत करके कह दिया कि तेरे पति इसी में हैं बस उसी दिन से मीराबाई भक्ति-भाव से भगवान् की अर्चना-बन्दना करने लगीं।

विवाह के योग्य होने पर उदयपुर के महाराणा सांगा के बड़े पुत्र राजकुमार भोजराज जी से इनका विवाह हुआ। ससुराल में जाते समय ये अपने ठाकुर जी को भी साथ लेती गई और वहाँ भी पूजा पाठ करना नहीं छोड़ा। इन्हें यहाँ पूजा पाठ स्वतन्त्रता से करने का अवसर नहीं मिलता था। पति की मृत्यु के उपरान्त इनके देवर विक्रमाजीतसिंह इन्हें भक्ति से विलग करने के लिये नाना प्रकार का यत्न करने लगे। एक बार इनको विष का प्याला भगवत-चरणामृत के नाम से भेजा। मीरा उसे निम्नलिखित पद गाते-गाते पी गई और विष का कुछ असर न हुआ।

हमारी पत राखो महाराज।
ठौर ठौर पतित उभारे अपने पत के काज।
द्रौपदि सति के चीर बढ़ाए ऐसे गरीब नवाज।
मीरा कहे प्रभु गिरिधर नागर साहिब तुम सिरताज॥

जब घर के लोग इन्हें बहुत तंग करने लगे तो इन्होंने गोस्वामी तुलसीदास जी को निम्नलिखित पत्र भेजा।

श्री तुलसी सुख निधान, दुख हरन गुसाईं।
बारहिंबार प्रणाम करूँ, अब हरो सोक समुदाई॥

घर के स्वजन हमारे जेते, सबन उपाधि बढ़ाई ।
साधु संग अरु भजन करत मोहि, देत कलेस महाई ॥
बालपने ते मीरा कीन्हीं, गिरिधरलाल मिताई ।
सो तो अब छूटत नहिं क्यों हूँ, लगी लगन बरियाई ॥
मेरे मात पिता के सम हौ, हरिभक्तन सुखदाई ।
हमको कहा उचित करिबो है, सो लिखियो समुझाई ॥

इसके उत्तर में गोस्वामी जी ने निम्नलिखित पत्र भेजा :—

जाके प्रिय न राम बैदेही ।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही ॥
तज्यो पिता प्रह्लाद, विभीषण बन्धु भरत महतारी ।
बलि गुरु तज्यो, कन्त ब्रज बनितनि, भये सब मंगलकारी ॥
नातो नेह राम सो मानियत, सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं ।
अञ्जन कहा आँख जो फूटे, बहुतक कहौं कहाँ लौं ॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित, पूज्य प्राण ते प्यारो ।
जासों होय सनेह राम पद, एतो मतो हमारो ॥

कहते हैं कि इसी उत्तर को पाकर वे चित्तौड़ को छोड़ वृन्दाबन चली गईं ।

इतिहास मर्मज्ञों का अनुमान है कि इनका गोलोकवास बिक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के आदि में हुआ होगा ।

मीराबाई के पद भक्ति और प्रेम में पूर्णरूपेण सने हुए हैं । भारतवर्ष के कोने-कोने में इनके पदों का प्रचार है । कैसा भी हृदयहीन क्यों न हो

जो एक बार भी एकाग्रचित्त से इनके प्रेम और विरह से पगे पदों को पढ़ लेता है वह उन्मत्त अवश्य हो जाता है। इनके बनाए हुए तीन ग्रन्थ मिलते हैं:—गीत गोविन्द की टीका, नरसी जी का मायरा और रागगोविन्द।]

(१)

मेरे तो गिरिधर-गोपाल दूसरा न कोई।
जाके शिर मोर मुकट मेरो पति सोई।
शंख चक्र गदा पद्म कण्ठ माल सोई॥
तात मात सुत न भ्रात आपनो न कोई।
छाँड़ दई कुल की कान क्या करेगा कोई॥
सन्तन सँग बैठ बैठ लोक लाज खोई।
अब तो बात फैल गई जाने सब कोई॥
अँसुअन जल सींच सींच प्रेम बेलि बोई।
मीरा प्रभु लगन लगी होनी हो सो होई॥

(२)

हेरी मैं तो प्रेम दिवानी, मेरा दरद न जाणे कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, किस विधि सोणा होय।
गँगन मण्डल पै सेज पिया की, किस विधि मिलना होय॥
घायल की गति घायल जाने, की जिन लाई होय।
जौहरी की गति जौहरी जाने, की जिन जौहर होय॥
दरद की मारी बन बन डोलूँ, बैद मिल्या नहिं कोय।
मीरा की प्रभु पीर मिटेगी, जब बैद सँवलिया होय॥

(३)

जब से मोहिं नंद नंदन, दृष्टि पड़ो माई।
तब से परलोक लोक, कछू न सुहाई॥
मोरन की चन्द्रकला, सीस मुकुट सोहै।
केसर को तिलक माला, तीन लोक मोहै॥
कुण्डल की अलक-झलक, कपोलन पर छाई।
मनोमीन सरवर तजि, मकर मिलन आई॥
कुटिल भृकुटि तिलक-भाल, चितवन में टौना।
खंजन अरु मधुप मीन, भूले मृग छौना॥
सुन्दर अति नासिका, सुग्रीव तीन रेखा।
नटवर प्रभु भेष धरे, रूप अति विशेषा॥
अधर बिम्ब अरुन नैन, मधुर मन्द हाँसी।
दसन दमक दाड़िम दुति, चमके चपलासी॥
छुद्र घण्ट किंकिनी, अनूप धुनि सुहाई।
गिरधर के अंग अंग, मीरा बलि जाई॥

४

म्हाने चाकर राखो जी, गिरिधारी नागर चाकर रखो जी।
चाकर रहसूँ बाग लगासूँ, नित उठि दरसन पासूँ।
वृन्दाबन की कुञ्ज गलिन में, तेरी लीला गासूँ॥
चाकरिया में दरसन पाऊँ, सुमिरन पाऊँ खरची।
भाव भगति जागीरी पाऊँ, तीनों बाता सरसी॥

मोर मुकुट पीताम्बर सो है, गल बैजन्ती माला ।
वृन्दाबन में धेनु चरावे, मोहन मुरली वाला ॥
ऊँचे ऊँचे महल बनाऊँ, बिच बिच राखूँ बारी ।
साँवलिया के दरसन पाऊँ, पहिन कुसुम्मी सारी ॥
जोगी आया जोग करन कूँ, तप करने सन्यासी ।
हरी भजन कूँ साधू आये, वृन्दाबन के बासी ॥
मीरा के प्रभु गहिर गँभीरा, हृदे रही जी धीरा ।
आधि रात प्रभु दरसन दीन्हों, जमुना जी के तीरा ॥

शब्दार्थ

बरियाई=ज़बरदस्त

चितवन=देखने में

बिम्ब=लाल (बिम्बा फल)

सरसी=प्रिय

कुसुम्मी=रंग विशेष

सूरदास ।

[पं० रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं:—

"हिन्दुओं के स्वातंत्र के साथ ही साथ वीर गाथाओं की परंपरा भी काल के अंधेरे में जा छिपी। उस हीन दशा के बीच वे अपने पराक्रम के गीत किस मुँह से गाते और किन कानों से सुनते ? जनता पर गहरी उदासी छा गई थी। राम और रहीम को एक बताने वाली बानी मुरझाए मन को हरा न कर सकी; क्योंकि उसके भीतर उस कट्टर एकेश्वर बाद का सुर मिला हुआ था, जिसका ध्वंसकारी स्वरूप लोग नित्य अपनी आँखों देख रहे थे। सर्वस्व गँवाकर भी हिन्दू जाति अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाए रखने की वासना नहीं छोड़ सकी थी। इससे उसने अपनी सभ्यता, अपने चिर-सञ्चित संस्कार आदि की रक्षा के लिये राम और कृष्ण का आश्रय लिया। उनकी भक्ति का श्रोत देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैल गया।"

सूरदास जी ने कृष्ण की भक्ति का वह निर्मल श्रोत बहाया कि जिसमें स्नान करके अनेक भक्तों ने शान्ति प्राप्त की। आपने सं० १५४० में जन्म लेकर संसार को कृतकृत्य किया। कुछ विद्वानों के विचार से आपका जन्म दिल्ली के पास रुनकता गाँव में और कुछ के विचार से आगरे के समीप सिही गांव में हुआ था।

बाल्यकाल से ही सूरदास जी घर छोड़कर वृन्दाबन में रहने लगे थे। कुछ तो पिछले जन्म के संस्कारों के कारण और कुछ साधु समागम होने

से इनकी भगवद्भक्ति और कविता प्रेम इतना बढ़ा कि धीरे २ गुणज्ञ लोग इनकी तरफ़ आकर्षित होने लगे। यह सूरदास की अगाध भगवद्भक्ति ही थी कि महाप्रभु वल्लभाचार्य इन पर मुग्ध हुए थे। सूरदास जी गौघाट पर जो मथुरा और आगरा के बीच में है, रहते थे। एक बार महाप्रभु जी गौघाट गये और सूरदास जी पर प्रसन्न होकर जाते समय इनको अपने साथ गोकुल ले गये। गोकुल में आचार्यवर ने इनको अपना शिष्य बना लिया और भागवत के सारे रहस्य इनको समझा दिये। सूरदास की भक्ति अद्भुत थी। उनका हृदय भक्ति रस में डूबा हुआ था।

एक समय अन्धे होने के कारण वे कुए में गिर पड़े। ऐसा कहा जाता है कि कृष्ण जी ने स्वतः इनको निकाला। जब वे उनको निकाल कर जाने लगे तो सूरदास ने कहाः—

बाँह छुड़ाये जात हो, निबल जान के मोहि।
हिरदे ते जब जाओगे, मरद बखानौं तोहि॥

ये केवल भगवद्भक्त ही नहीं, वरन् गुरुभक्त भी थे। एक समय किसी वैष्णव ने पूछा कि हे सूरे! तुमने सवा लाख पद रचे पर अपने गुरु पर एक भी पद्य नहीं लिखा। तब आपने प्रेम-पुलकित होकर कहा कि क्या गुरु और गोविन्द में कोई अन्तर है। फिर आपने यह पद्य कहाः—

भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।
श्रीवल्लभ नख चन्द्र छटा बिनु, सब जग माँझ अँधेरो।
साधन और नहीं या कलि में, जासों होत निबेरो।
सूर कहा कहि दुबिध आंधरो, बिना मोल को चेरो।



हाथ छुडाये जात हौ निबल जानिके मोहि ।
हृदय ते जब जाहुगे सबल बदौंगो तोहि ॥

GITA PRESS, GORAKHPUR.

सूरदास के लिखे हुए सभी पद उपलब्ध नहीं हैं । केवल सूरदास, सूरसारावली और साहित्य लहरी, यह तीन पुस्तकें प्राप्य हैं ।

सूरदास की कविता में वह मोहिनी शक्ति भरी है, वह लोकोत्तर चमत्कार है कि उसको सुनते ही हृदय गद्गद् हो जाता है, तबियत फड़क उठती है, अन्तरात्मा ब्रह्मानन्द में हिलोरें लेने लगता है ।

पद्य

(१)

कजरी को पय पिअहु लाल तेरी चोटी बढ़ै ।
सब लरिकन में सुन सुन्दर सुत तव श्री अधिक बढ़ै ॥
जैसे देखि और ब्रज बालक त्यों बल बैस बढ़ै ।
कंस, केसि, बक बैरिन के उर अनुदिन अनल डढ़ै ॥
यह सुनिकै हरि पीवन लागे ज्यों त्यों लयो लुढ़ै ।
अचवत पै तात्यो जब लाग्यो रोवत जीभ उड़ै ॥
पुनि पीवत ही कच टकटोवै भूठें जननि रढ़ै ।
'सूर' निरखि मुख हँसत जसोदा सो सुख उर न कढ़ै ॥

(२)

मैया कबहि बढ़ैगी चोटी ।
कितनी बार मोहिं दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी ॥
तू जो कहत बल बेनी ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी ।
काढ़त गुहत न्हवावत ओंछत नागिनि सी भ्वैं लोटी ॥

काचो दूध पियावत पचि पचि देत न माखन रोटी ।
'सूर' श्याम चिरजीवौ दोऊ हरि हलधर की जोटी ॥

(३)

मैया मैं नाहीं दधि खायो ।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो ॥
देखि तुहीं सीके पर भाजन ऊँचे धर लटकायो ।
तुहीं निरखि नान्हे कर अपने मैं कैसे करि पायो ॥
मुख दधि पोंछि कहत नँदनन्दन दोना पीठ दुरायो ।
डारि साँट मुसुकाइ तबहिं गहि सुत को कण्ठ लगायो ॥
बालविनोद-मोद मन मोह्यो भक्त प्रताप दिखायो ।
'सूरदास' प्रभु जसुमति के मुख शिव बिरंचि बौरायो ॥

(४)

खेलत में को काको गोसैयाँ ?
हरि हारे जीते श्रीदामा बरबस ही कत करत रिसैयाँ ॥
जाति पाँति हमते कछु नाहिन बसत तुम्हारी छैयाँ ।
अति अधिकार जनावत याते अधिक तुम्हारे है कछु गैयाँ ॥
रुहठि करै तासों को खेलै रहे पौढ़ि जहँ तहँ सब ग्वैयाँ ।
'सूरदास' प्रभु खेलोई चाहत दाँव देत करि नन्द दोहैयाँ ॥

(५)

मधुवन ! तुम कत रहत हरे ?
विरह-वियोग श्यामसुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे ?

तुम हौ निलज्ज, लाज नाहि तुमको फिर सिर पुहुप धरे।
ससा स्यार औ बनके पखेरू धिक धिक सबन करे।
कौन काज ठाढ़े रहे बन में, काहे न उकठि परे ?

(६)

ऊधो मन माने की बात।
दाख-छोहारा छाँड़ि अमृत-फल, विष-कीरा विष खात॥
जो चकोर को दइ कपूर कोउ, तजि अँगार न अघात।
मधुप करत घर कोरि काठ में, बँधत कमल के पात॥
ज्यों पतंग हित जानि आपनो, दीपक सों लपटात।
'सूरदास' जाको मन जासों, सोई ताहि सुहात॥

(७)

किते दिन हरि दरसन बिन बीते।
एको फुरत न स्यामसुन्दर बिन, बिरह सबै सुख जीते॥
मदनगोपाल वैठि कञ्चन रथ, चितइ किये तनु रीते।
सुफलक-सुत लै गये दगा दै, प्रानन ही के प्रीते॥
बहुरि कृपालु घोष कब आवहिं, मोहन राम समीते ?
'सूरदास' प्रभु बहुरि कृपा करि, मिलहु सुदामा मीते॥

(८)

सँदेसनि मधुबन कूप भरे।
जो कोउ पथिक गये हैं ह्यां तें, फिरि नहिं गवन करे॥
कै वै श्याम सिखाय समोधे, कै वै बीच मरे ?

अपने नहिं पठवत नँदनन्दन, हमरेउ फेरि धरे।
मसि खूँटी, कागर जल भींजे, शर दव लागि जरे॥

(९)

ऊधो, हमहिं कहा समझावहु ?
पसु, पंछी, सुरभी ब्रज की सब, देखि स्त्रवन सुनि आवहु॥
तृन न चरत गो पिवत न सुत पय, ढूँढ़त बन बन डोलैं।
अलि कोकिल जे आदि विहंगम, भीत भयानक बोलैं॥
जमुन भई तन स्याम, स्याम बिनु, अन्ध छीन जे रोगी।
तरुवर पत्र वसन न सँभारत, विरह वृच्छ भये योगी॥
गोकुल के सब लोग दुखित हैं, नीर बिना ज्यों मीन।
'सूरदास' प्रभु प्रान न छूटत, अवधि आस में लीन॥

(१०)

ऊधो मन न भये दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम सँग, को अवराधै ईस॥
इन्द्री सिथिल भईं केसव बिनु, ज्यों देही बिनु सीस।
आसा लगी रहति तनु स्वासा, जीजै कोटि बरीस॥
तुम तो सखा स्यामसुन्दर के, सरल जोग के ईस।
'सूरदास' वा रस की महिमा, जो पूछै जगदीस॥

(११)

तुम मेरी राखो लाज हरी।
तुम जानत सब अन्तरजामी, करनी कछु न करी॥

औगुन मोतें बिसरत नाहीं, पल छिन घरी घरी।
सब प्रपञ्च की पोट बाँधकर, अपने सीस धरी॥
दारा सुत धन मोह लिये हौं, सुधि बुधि सब बिसरी।
'सूर' पतित को बेगि उतारो, अब मेरी नाव भरी॥

(१२)

आजु हौं एक एक करि टरिहौं।
कै हमहीं कै तुमहीं माधव, अपुन भरोसो लरिहौं॥
हौं तो पतित अहौं पीढ़िन को, पतितै ह्वै निस्तरिहौं।
अब हौं उघरि नचन चाहत हौं, तुम्हें बिरद बिनु करिहौं॥
कत अपनी परतीत नसावत, मैं पायो हरि हीरा।
'सूर' पतित तब हीं लै उठिहै, जब हँसि दैहौं बीरा॥

शब्दार्थ

दुबिध=दोनों प्रकार (आंख से और दिल से)।
कजरी=काली गाय।
अनल=अग्नि।
टकटोवै=पकड़कर देखना।
पचिपचि=ज़बरदस्ती।
दुरायो=छिपाया।
ग्वैयां=साथी।
उकठि=सूख जाना।
सुफलक-सुत=अक्रूर

तुलसीदास

[तुलसीदास जी का जन्म सम्भवतः संवत् १५८९ में राजपुर नामक गांव में हुआ। इनके पिता का नाम आत्माराम और माता का नाम हुलसी था। कहा जाता है कि मूल नक्षत्र में पैदा होने के कारण माता-पिता ने इन्हें पैदा होते ही त्याग दिया था। इसके विषय में वे स्वयं लिखते हैं:—

मातु पिता जग जाइ तज्यो,
विधि हू न लिख्यौ कछु भाल भलाई।

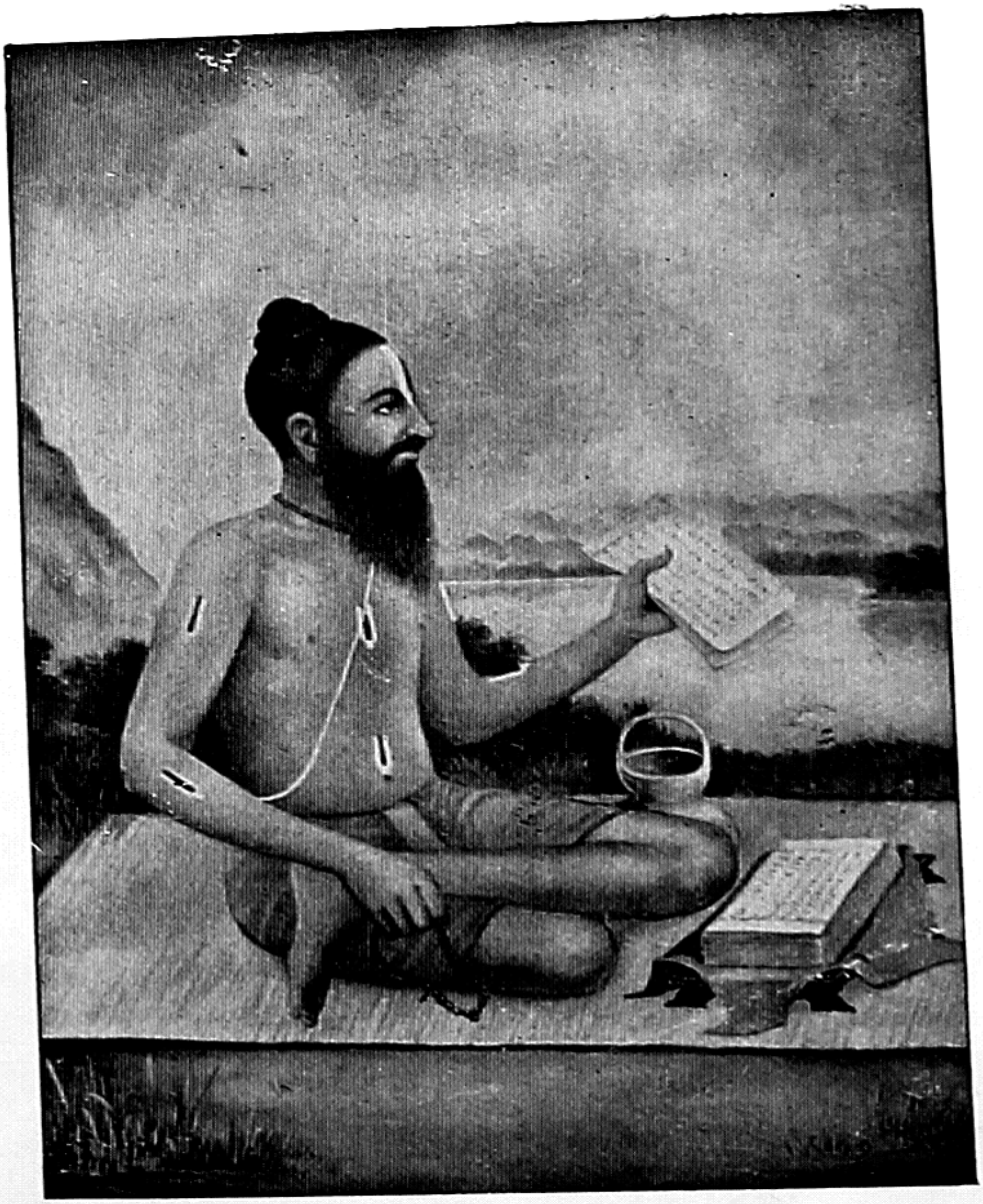
इससे सिद्ध होता है कि कहीं अन्यत्र इनका लालन-पालन हुआ। ऐसा जान पड़ता है कि इनका बाल्यकाल गुरु-आश्रम में व्यतीत हुआ था, क्योंकि वे स्वतः लिखते हैं:—

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत।
समुझ नहीं तस बालपन, तब अति रह्यौं अचेत॥

इनके जीवन-श्रोत को परिवर्तित करनेवाली घटना, इनकी स्त्री का उपालम्भ है। यह अपनी स्त्री से बहुत प्रेम करते थे। एक बार वह इनसे बिना पूछे अपने पिता के घर चली गई तो ये उससे मिलने एक बरसाती भयङ्कर नदी को पैरकर गये।

उनकी स्त्री को यह पागलपन अरुचिकर प्रतीत हुआ और उसने कहा—

लाज न आवत आपको, दौरे आयहु साथ।
धिक धिक ऐसे प्रेम को, कहा कहहुँ मैं नाथ॥
अस्थि चरम-मय देह मम, तामें जैसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम महँ, होत न तौ भव-भीति॥



गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी

GITA PRESS, GORAKHPUR.

इस घटना का तुलसीदासजी पर इतना असर पड़ा कि वे घर छोड़कर सन्यासी हो गये और अयोध्या तथा काशी आदि तीर्थों में भ्रमण करने लगे।

सम्वत् १६३१ में उन्होंने रामायण लिखना प्रारम्भ किया। काशी में वह कुटिया अभी विद्यमान है, जिसमें बैठकर गोस्वामीजी रामायण लिखा करते थे।

बनारस में असी घाट पर गोस्वामीजी ने अपनी रामायण के अनुसार रामलीला प्रारम्भ की थी, जो वहाँ अबतक नियमबद्ध होती चली आ रही है।

एक बार एक ब्राह्मण को हत्या लगी। वह हत्या-निवृत्ति के लिए सबसे प्रार्थना करता फिरता था किन्तु उसकी कोई न सुनता था।। गोस्वामीजी को देखकर वह राम राम करके रोने लगा। उसके मुँह से राम का नाम सुनकर गोस्वामीजी के हृदय में इतना प्रेम उमड़ा कि उन्होंने उसे अपने साथ भोजन कराया, जिससे उसकी हत्या निवृति हो गई।

इनके बनाये हुए प्रसिद्ध ग्रन्थ निम्नलिखित हैं :—

रामचरितमानस, विनय पत्रिका, कवितावली, गीतावली, छन्दावली, देहावली आदि पच्चीस ग्रन्थ हैं।

इनको अपनी मृत्यु का समय पहले ही ज्ञात था, क्योंकि वे लिखते हैं—

संवत सोलह सौ असी, असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर।।]

(१)

रघुवर तुम को मेरी लाज।
सदा सदा मैं शरण तिहारी,
तुम बड़े ग़रीब नवाज ॥
पतित उधारन विरद तिहारो,
श्रवनन सुनि आवाज।
हौं तो पतित पुरातन कहिये,
पार उतारो जहाज ॥
अघ-खण्डन दुःख-भञ्जन जनके,
यही तिहारो काज।
तुलसीदास पर किरपा करिये,
भक्त दान देहु आज ॥

(२)

ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवय दीन पर,
राम सरिस कोउ नाहीं ॥
जो गति योग विराग यतन करि,
नहिं पावत मुनि ज्ञानी।
सो गति दई गीध सबरी कहँ,
प्रभु न बहुत जिय जानी ॥

जो संपति दस सीस अरपि,
रावण सिव पहँ लीन्हीं ।
सो सम्पदा विभीषण कहँ,
अति सकुच सहित हरि दीन्हीं ॥
तुलसिदास सब भाँति सकल सुख,
जो चाहसि मन मेरो ।
तो भजु राम काम सब पूरन,
करैं कृपानिधि तेरो ॥

(३)

ऐसी मूढ़ता या मन की ।
परिहरि राम-भक्ति सुर-सरिता, आस करत ओसकन की ॥
धूम-समूह निरखि चातक ज्यों, तृषित जानि मति घन की ।
नहिं तहँ सीतलता, न बारि पुनि, हानि होत लोचन की ॥
ज्यों गज काँच बिलोकि सेन जड़, छाँह आपने तन की ।
टूटत अति आतुर अहार-बस, छति बिसारि आनन की ॥
कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि, जानत हौं गति जन की ।
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पन की ॥

(४)

मन पछतै है अवसर बीते ।
दुरलभ देह पाइ हरि-पद भजु, करम, वचन अरु हीते ।
सहसबाहु, दसबदन आदि नृप, बचे न काल बलीते ॥

हम-हम करि धन-धाम सँवारे, अन्त चले उठ रीते।
सुत-बनितादि जानि स्वारथ रत, न करु नेह सबही ते ॥
अन्तहु तोहिं तजेंगे पामर, तू किन तजु अबही ते?
अब नाथहिं अनुरागु जागु जड़, त्यागु दुरासा जी ते।
बुझै न काम-अगिनि तुलसी कहुँ, विषय-भोग बहु घीते ॥

कवितावली

अवधेस के द्वारे सकारे गई, सुत गोद कै भूपति लै निकसे।
अवलोकि हौं सोच-विमोचन को, ठगि-सी रही, जे न ठगे, धिक-से
तुलसी मन-रंजन रंजित अंजन, नैन सु खञ्जन-जातक से।
सजनी ससि में सम सोल उभै, नव नील सरोरुह-से बिकसे ॥
पग नूपुर औ पहुँची करकंजनि, मंजु बनी मनिमाल हिये।
नव नील कलेवर पीत झंगा, झलकैं पुलकैं नृप गोद लिये ॥
अरबिंद-सो आनन रूप मरंद, अनंदित लोचन-भृंग पिये।
मनमें न बस्यौ अस बालक जो, तुलसी जग में फल कौन जिये?
तन की दुति स्याम सरोरुह लोचन, कञ्ज की मञ्जुलताई हरैं।
अति सुन्दर सोहत धूरि भरे, छबि भूरि अनंग की दूरि धरैं ॥
दमकैं दँतियाँ दुति दामिनि ज्यों, किलकैं कल बाल-विनोद करैं।
अवधेस के बालक चार सदा, तुलसी-मन-मन्दिर में विहरैं ॥

पात भरी सहरी सकल सुत बारे बारे,
केवट की जाति कछु वेद ना पढ़ाइ हौं।

सब परिवार मेरो याही लागि राजा जू,
हौं दीन वित्तहीन कैसे दूसरी गढ़ाइहौं ?
गौतम की घरनी ज्यों तरनी तरैगी मेरी ।
प्रभु सों निषाद ह्वै के बाद ना बढ़ाइ हौं ॥
तुलसी के ईश राम रावरे सों साँची कहौं ।
बिना पग धोए नाथ नाव न चढ़ाइ हौं ॥

राम-रावण युद्ध

रावण रथी विरथ रघुबीरा । देखि बिभीषन भयउ अधीरा ॥
अधिक प्रीति मन भा सन्देहा । बन्दि चरन कह सहित सनेहा ॥
नाथ न रथु नहिं तनु पदत्राणा । केहि विधि जितव शत्रु बलत्राना ॥
सुनहुँ सखा कहँ कृपानिधाना । जेहि जय होय सो स्यन्दन आना ॥
सौरज धीरज तेहि रथ चाका । सत्यशील दृढ़ ध्वजा पताका ॥
बल विवेक दम परहित घोरे । छमा कृपा समता रजु जोरे ॥
ईस-भजन सारथी सुजाना । विरति वर्म संतोष कृपाना ॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचण्डा । वर विज्ञान कठिन कोदण्डा ॥
अमल अचल मन त्रोन समाना । सम जम नियम सिलीमुख नाना ॥
कवच अभेद विप्र गुरु पूजा । एहि सम विजय उपाय न दूजा ॥
सखा धर्ममय अस रथ जाके । जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके ॥

महा अजय संसार रिपु, जीति सकै सो वीर ।
जाके अस रथ होय दृढ़, सुनहुँ सखा मति धीर ॥

कबहुक हौं इहि रहनि रहौंगो।
परहित निरत निरन्तर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो ॥
परुष बचन अति दुसह श्रवण सुनि तेहि पावक न दहौंगो ।
बिगत मान सम सीतल मन परगुन अवगुन न कहौंगो ॥
परिहरि देह जनित चिन्ता दुख सुख सम बुद्धि सहौंगो ।
तुलसिदास प्रभु इहि पथ रहि अविचल हरि भक्ति लहौंगो ॥

शब्दार्थ

सूकर-खेत=स्थान विशेष।

द्रवय=कृपा करना।

सेन=बाज़।

छति=हानि।

हीते=हृयद से।

सकार=सवेरे।

ठगि-सी=प्रेम से विह्वल (ठगी हुई।

मन-रञ्जन=मन को प्रसन्न करनेवाली।

रञ्जित-अञ्जन=काजल लगे हुए।

खञ्जन-जातक=खञ्जन का बच्चा।

सरोरुह=कमल !

कञ्ज=कमल।

झँगा=अँगरखा।

शब्दार्थ

स्यन्दन=रथ।

दम=इन्द्रियों को बश में करना।

जम=ब्रह्मचर्य, सत्य इत्यादि।

सम=निग्रह।

नियम=तप, सन्तोष, आस्तिकता, दान, जाप, होम इत्यादि।

विवेक=विचारशीलता।

विरति=वैराग्य।

विज्ञान=ज्ञान।

कोदण्डा=धनुष।

सिलीमुख=बाण।

विगत=अलग।

अच्छ=रावण का पुत्र (अक्षयकुमार)।

पजार्‌यौ=जला दिया।

ह्नातोकीजै=दूर कर दीजिये।

ह्नातो······बीस को=हृदय से बीस भुजाओं के बल का भरोसा दूर कर दो।

रोपि······दससीस को=तात्पर्य यह है कि संहारकारी बाण सन्धान करने से पहले तक भी राम तुझे शरण दे सकते हैं। निकलता हुआ बाण व्यर्थ नहीं जाता।

कबीर साहब

[कबीरदास की जन्म-तिथि के विषय में विद्वानों का भिन्न-भिन्न मत है। अधिकांश विद्वानों का कहना है कि कबीरदास सम्वत् १४५५ की ज्येष्ठ शुक्ला पूर्णिमा को एक ब्राह्मण की विधवा कन्या के पेट से उत्पन्न हुए। लोक-लज्जावश उसने बालक को लहर तारा (काशी के समीप) के पास एक तालाब के किनारे फेंक दिया। सँयोग से नीरू जुलाहा अपनी पत्नी नीमा के साथ उसी राह से जा रहे थे। सन्तानहीन होने से नीमा ने उस बालक को निज पुत्र की भांति पाला और वही बालक कबीर नाम से प्रख्यात हुआ।

कबीर साहब जन्म के महात्मा थे। बाल्यकाल से ही धार्मिक बातों में इन्हें आनन्द आने लगा। उन्होंने स्वामी रामानन्द को अपना गुरु बनाया। कबीर साहब पढ़े लिखे न थे। सत्सङ्ग, स्वाभाविक प्रतिभा तथा पूर्व जन्म के संस्कार के कारण इन्होंने अध्यात्म की रहस्यमयी बातों को सरल शब्दों में प्रकट करके जनताका बड़ा ही उपकार किया। हिन्दू मुसलमानों को धर्म के नाम पर वृथा आडम्बर करते देख इन्हें बड़ी वेदना होती थी और इन्होंने बड़े कड़े शब्दों में पाखण्डियों की आलोचना की।]

कबीर

(१)

माया महा ठगिनि हम जानी।
निरगुन फाँस लिये कर डोलैं, बोलै मधुरी बानी।
केसव के कमला ह्वै बैठी, सिव के भवन भवानी॥

पंडा के मूरति ह्वै बैठी, तीरथ में भई पानी।
जोगी के जोगिन ह्वै बैठी, राजा के घर रानी॥
काहू के हीरा ह्वै बैठी, काहु के कौड़ी कानी।
भक्तन के भक्तिनि ह्वै बैठी, ब्राह्मा के ब्रह्मानी॥
कहै 'कबीर' सुनो हो संतो, यह सब अकथ कहाना॥

(२)

कौनो ठगवा नगरिया लूटलहो।
चंदन-काठ के बनल खटोलना, तापर दुलहिन सूतल हो।
उठो री सखी, मोरि माँग सँवारो, दुलहा मोसे रूसल हो।
आए जमराज, पलँग चढ़ि बैठे, नैनन आँसू टूटल हो।
चारि जने मिलि खाट उठाइन, चहुँदिसि घूघू ऊठल हो।
कहत कबीर सुनो भई साधो, जगत से नाता छूटल हो॥

(३)

जो तू साँचा बानिया, सांची हाट लगाव।
अन्दर झाड़ू देइ के, कूड़ा दूर वहाव॥ १॥
मोर तोर के जेवरी, बटि बाँधा संसार।
दास 'कबीरा' क्यों बँधे, जाके नाम अधार॥ २॥
मन मथुरा, दिल द्वारका, काया कासी जानु।
दस द्वार का देहरा, तामे जोति पिछानु॥ ३॥
बड़ा हुआ तो क्या हुआ, जैसे पेड़ खजूर।
पंछी को छाया नहीं, फल लागै अति दूर॥ ४॥

प्रभुता को सब कोउ भजै, प्रभु को भजै न कोय।
कह 'कबीर' प्रभु को भजै, प्रभुता चेरी होय ॥ ५ ॥

चलौ-चलौ सब कोइ कहै, पहुँचे बिरला कोय।
एक कनक अरु कामिनी, दुरगम घाटी दोय ॥ ६ ॥

केसन कहा बिगारिया, जो मूड़ौ सौ बार।
मन को क्यों नहिं मूड़िये, जामें होय विकार ॥ ७ ॥

मन के मते न चालिये, मन के मते अनेक।
जो मन पर असवार है, सो साधू कोई एक ॥ ८ ॥

कबिरा मन तो एक है, भावै तहाँ लगाय।
भावै गुरु की भक्ति कर, भावै विषय कमाय ॥ ९ ॥

मनके बहुतक रंग हैं, छिन-छिन बदलै सोय।
एकै रँग में जो रहै, ऐसा बिरला कोय ॥ १० ॥

मन कुञ्जर मदमत्त था, फिरता गहिर गंभीर।
दोहरी तेहरी चौहरी, परि गई प्रेम जंजीर ॥ ११ ॥

मनके हारे हार है, मनके जीते जीत।
कह 'कबीर' प्यो पाइये, मन ही की परतीत ॥ १२ ॥

प्रेम प्रीति सों जो मिलै, तासों मिलिये धाय।
अंतर राखे जो मिलै, तासों मिलै बलाय ॥ १३ ॥

माटी कहै कुम्हार से, तू क्या रूंदै मोहि।
यक दिन ऐसा होयगा, मैं रोंदूंगी तोहि ॥ १४ ॥

आस पास जोधा खड़े, सबै बजावें गाल।
मांझ महल से ले चला, ऐसा काल कराल॥ १५॥
माली आवत देखिके, कलियाँ करैं पुकार।
फूली-फूली चुनि लई, कालि हमारी बार॥ १६॥
प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै, शीश देइ लै जाय॥ १७॥
नैनों की करि कोठरी, पुतली पलँग बिछाय।
पलकों की चिक डालिके, पिय को लिया रिझाय॥ १८॥
प्रेम छिपाया ना छिपे, जा घट परगट होय।
जो पै मुख बोलै नहीं, नैन देत हैं रोय॥ १९॥
कबिरा नौबत आपनी, दिन दस लेहु बजाय।
यह पुर पट्टन यह गली, बहुरि न देखो आय॥ २०॥
जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।
प्रेम गली अति साँकरी, तामें दो न समाहिं॥ २१॥

शब्दार्थ

लूटल हो=लूट लिया।

सूतल=सोती है।

टूटल=उमड़ उठा।

ऊठल=उठा।

जेवरो=रस्सी।

शब्दार्थ

केसन=बाल।

बिगारिया=नष्ट करना।

भावै=अच्छा लगे।

मदमत्त=मस्त, मतवाला।

प्यो पाइये=पति (भगवान) को पाइये।

मांझ=बीच।

रहीम

[रहीम सम्राट् अकबर के मन्त्री थे, दरबार में इनका अत्यन्त सम्मान होता था। इनका स्वभाव बड़ा ही सरल था। कहा जाता है कि इन्होंने अपने जीवन भर में कभी किसी पर क्रोध नहीं किया। वर्ष में एक नियत दिन पर ये अपने घर की सारी सम्पत्ति दान कर दिया करते थे। हिन्दी, संस्कृत, अरबी, फ़ारसी के यह अच्छे विद्वान् थे।

कहा जाता है कि अकबर की मृत्यु के उपरान्त जहांगीर ने रहीम को राजद्रोह के अभियोग में कैद कर लिया, किन्तु किसी प्रकार जेल से इन्हें छुटकारा मिल गया और दुखी होकर यह चित्रकूट में रहने लगे। सुना जाता है कि दरिद्रावस्था से दुखी होकर इन्होंने एक भुजवे के यहाँ नौकरी कर ली। एक दिन जब यह भार झोंक रहे थे तो रीवां नरेश ने इन्हें पहचान लिया और रहीम से बोलेः—

'जाके सिर अस भार, सो कस झोंकत भार अस।

रहीम ने उत्तर दियाः—

रहिमन उतरे पार, भार झोंकि सब भार में।' ?

रहीम की कविता नीति और ज्ञान से परिपूर्ण है। सरल दोहों में इन्होंने ऐसे उत्तम भाव भर दिये हैं कि मन मुग्ध हो जाता है। इनका सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ रहीम सतसई है।]

रीति प्रीति सबसों भली, बैर न हित मित गोत।
रहिमन याही जनम की, बहुरि न संगति होत ॥ १ ॥

कहि रहीम धन बढ़ि घटे, जात धनिन की बात।
घटे बढ़े उनको कहा, घास बेंचि जे खात॥ २॥

दुरदिन परे रहीम कहि, भूलत सब पहिचान।
सोच नहीं वित हानि को, जो न होय हित हानि॥ ३॥

को रहीम पर द्वार पर, जात न जिय पछितात।
सम्पति के सब जात हैं, विपति सबहिं लै जात॥ ४॥

कहि रहीम सम्पति सगे, बनत बहुत बहु रीति।
विपति कसौटी जे कसे, तेई सांचे मीत॥ ५॥

तबही लग जीबो भलो, दीबो परै न धीम।
बिन दीबो जीबो जगत, हमहिं न रुचै रहीम॥ ६॥

धनि रहीम गति मीन की, जल बिछुरत जिय जाय।
जियत कंज तजि अन्त बसि, कहा भौंर को भाय॥ ७॥

अमरबेलि बिन मूल की, प्रतिपालत है ताहि।
रहिमन ऐसे प्रभुहिं तजि, खोजत फिरये काहि॥ ८॥

कहु रहीम केतिक रही, केती गई बिहाय।
माया ममता मोह परि, अंत चले पछिताय॥ ९॥

जो रहीम करिबो हुतो, ब्रज को यही हवाल।
तौ कत मातहिं दुख दियो, गिरवर धरि गोपाल॥ १०॥

रहिमन याचकता गहे, बड़े छोट ह्वै जात।
नारायन हू को भयो, बावन आंगुर गात॥ ११॥

ये रहीम घर घर फिरैं, माँगि मधुकरी खाहिं।
यारो यारी छोड़ दो, अब रहीम वे नाहिं ॥ १२ ॥

संतत संपति जानके, सबको सब कोइ देय।
दीनबंधु बिन दीन की, को रहीम सुध लेय ॥ १३ ॥

सर सूखे पंछी उड़ैं, औरे सरन समाहिं।
दीन मीन बिन पच्छ के, कहु रहीम कहँ जाहिं॥ १४ ॥

धूर धरत निज शीश पर, कहु रहीम केहि काज।
जिहि रज मुनि पत्नी तरीं, सोइ ढूँढ़त गजराज॥ १५॥

रहिमन कहत सु पेट सो, क्यों न भयो तू पीठ।
रीते अनुरीते करत, भरे विगारत दीठ॥ १६ ॥

जे गरीब सो हित करें, धनि रहीम वे लोग।
कहा सुदामा बापुरो, कृष्ण मिताई जोग ॥ १७ ॥

यह न रहीम सराहिये, लेन देन की प्रीति।
प्रानन बाजी राखिये, हारि होय कै जीति ॥ १८ ॥

ससि सकोच साहस सलिल, मान सनेह रहीम।
बढ़त बढ़त बढ़ि जात है, घटत घटत घटि सीम ॥१९॥

बड़े दीन को दुख सुने, लेत दया उर आनि।
हरि हाथी सों कब हुती, कहु रहीम पहिचानि ॥२०॥

जो पुरुषारथ ते कहूँ, सम्पति मिलति रहीम।
पेट लागि वैराग घर, तपत रसोई भीम॥ २१ ॥

धनि रहीम जल पंक को, लघु जिय पियत अघाय।
उदधि बड़ाई कौन है, जगत पियासो जाय॥ २२॥
नाद रीझि तन देत मृग, नर धन हेत समेत।
ते रहीम पशुते अधिक, रीझेहु कछू न देत॥ २३॥
होय न जाकी छाँह ढिग, फल रहीम अति दूर।
बाढ़ेहु सो बिन काज ही, जैसे तार खजूर॥ २४॥

शब्दार्थ

धीम=मन्द।

केतिक=कितना ही।

याचकता=मागना।

मधुकरी=सन्यासियों की भिक्षा।

संतत=सदैव।

दीठ=दृष्टि।

नाद=गाना।

बिहारी

जगत जनायो जिहिं सकल, सो हरि जान्यो नाहिं।
ज्यों आँखिन सब देखिये, आँख न देखी जाहिं ॥१॥
भजन कह्यो ताते भज्यौ, भज्यौ न एको बार।
दूर भजन जाते कह्यौ, सो तैं भज्यो गँवार ॥२॥
यैं तपाय त्रय ताप सों, राख्यो हियो हमाम।
मति कबहूँ आवैं इहाँ, पुलक पसीजे स्याम ॥३॥
यह बिरियाँ नहिं और की, तू किरिया वह सोधि।
पाहन नाव चढ़ाय जेहि, कोनो पार पयोधि ॥४॥
जप माला छापा तिलक, सरै न एकौ काम।
मन काचे नाचे वृथा, साँचे राँचे राम ॥५॥
तौ लगि या मन सदन में, हरि आवैं केहि बाट।
निपट विकट जब लौं जुटे, खुलै न कपट कपाट ॥६॥
को छूट्यो इहिं जाल परि, मति कुरंग अकुलाय।
ज्यों ज्यों सुरझि चहै भज्यो, त्यों त्यों उरझत जाय॥७॥
जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सु बीत बहार।
अब अलि रही गुलाब में, अपत कटीली डार ॥८॥
इहि आशा अटक्यो रहै, अलि गुलाब के मूल।
ह्वैहैं बहुरि वसंत-ऋतु, इन डारिन वै फूल ॥९॥
कर लै सूँघि सराहि के, रहे सबै गहि मौन।
गंधी अंध गुलाब को, गँवई गाहक कौन ॥१०॥

दृग उरझत टूटत कुसुम, जुरत चतुर सँग प्रीति।
परत गाँठ दुर्जन हिये, दई नई यह रीति ॥११॥

हरि कीजत तुमसो यहै, बिनती बार हजार ।
जेहि तेहि भाँति डर्‍यौ रहौं, पर्‍यो रहौं दरबार ॥१२॥

बड़े न हूजे गुनन बिन, बिरद बड़ाई पाय ।
कहत धतूरे सौं कनक, गहनो गढ्यो न जाय ॥३॥

बढ़त बढ़त सम्पति सलिल, मन सरोज बढ़ि जाय।
घटत घटत सुन पुनि घटे, बरु समूल कुम्हिलाय ॥१४॥

घर घर डोलत दीन ह्वै, जन जन जाचत जाय।
दिये लोभ चसमा चखनि, लघु पुनि बड़ो लखाय ॥१५॥

कोटि जतन कोऊ करै, परै न प्रकृतहिं बीच ।
नल बल जल ऊँचो चढ़ै, अंत नीच को नीच ॥१६॥

कनक कनकतें सौ गुनी, मादकता अधिकाय ।
वह खाये बौरात है, यह पाये बौराय ॥१७॥

चटक न छाड़त घटत हू, सज्जन नेह गँभीर ।
फीको परै न बरु फटै, रँग्यो चोल रँग चोर ॥१८॥

दीरध साँस न लेइ दुख, सुख साईं मति भूल।
दई दई कत करत है, दई दई सु कबूल ॥१९॥

कोऊ कोटिक संग्रहो, कोऊ लाख हजार ।
मो संपति यदुपति सदा, विपति विदारनहार ॥२०॥

शब्दार्थ

त्रय-ताप=दैहिक, दैविक, भौतिक।

पुलक =गद्गद् ।

बिरियां=समय (वेला)।

किरिया=मल्लाह ।

चटक=चमक ।

बरु=चाहे तो ।

चोलरंग=गेरुआ रंग ।

भूषण

ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहन वारी,
ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहाती हैं।
कन्दमूल भोग करैं, कन्दमूल भोग करैं,
तीन बेर खातीं ते वै बीन बेर खाती हैं ॥
भूषण सिथिल अंग भूखन सिथिल अंग,
बिजन डुलातीं ते वै बिजन डुलाती हैं ।
भूषण भनत सिवराज वीर तेरे त्रास,
नगन जड़ातीं ते वै नगन जड़ाती हैं ॥

चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठै बार बार,
दिल्ली दहसति चितै चाह करषति है ।
बिलखि बदन बिलखात बिजैपुर पति,
फिरत फिरंगिन की नारी फरकति है ॥
थर थर कांपत कुतुबशाह [गोलकुण्डा,
हहरि हबस भूप भीर भरकति है ।
राजा शिवराज के नगारन की धाक सुनि,
केते बादशाहन की छाती दरकति है ॥

दुग्ग पर दुग्ग जीते सरजा सिवाजी गाजी,
उग्ग पर उग्ग नाचे रुण्ड मुण्ड फरके ।
भूषन भनत बाजे जीत के नगारे भारे,
सारे करनाटी भूप सिंहल को सरके ॥
मारे सुनि सुभट पनारे वारे उदभट,
तारे लगे फिरन सितारे गढ़धर के ।
बीजापुर वीरन के गोलकुण्डा धीरन के,
दिल्ली उर मीरन के दाड़िम से दरके ॥

राखी हिन्दुवानी हिन्दुवान को तिलक राख्यो,
अस्मृति पुरान राखे वेद विधि सुनी में ।
राखी रजपूती राजधानी राखी राजन की,
धरा में धरम राख्यो राख्यो गुन गुनी में ॥
भूषन सुकवि जीति हद्द मरहट्ठन की,
देश देश कीरति बखानी तव सुनी में ।
साहि के सपूत सिवराज समसेर तेरी,
दिल्ली दल दाबि कै दिवाल राखी दुनी में ॥

घिरे रहे घाट और बाट सब घिरे रहे,
बरस दिना की गैल छिन माहिं छ्वै गयो ।

ठौर ठौर चौकी ठाढ़ी रही सब स्वारन की,
मीर उमरावन के बीच ह्वै चलो गयो ॥
देखे में न आयो ऐसे कौन जानै कैसो गयो,
दिल्ली कर मोड़े कर भारत कितै गयो ।
सारी पातसाही के सिपाही सेवा सेवा करैं,
पर्यो रह्यौ पलँग परेवा सेवा ह्वै गयो ॥

देत तुरीगन गीत सुने बिन, देत करीगन गीत सुनाए ।
'भूषन' भावत भूप न आन, जहान खुमान की कीरत गाए ॥
मंगन को भुवपाल घने, पै निहाल करै सिवराज रिझाए ।
आन ऋतैं बरसैं सरसैं, उमड़ै नदिया ऋतु पावस पाए ॥

शब्दार्थ

(१)

वोर=बहुत भयानक।

मन्दर=मन्दिर, पर्वत ।

कन्दमूल=मिष्टान्न, शकरकन्द।

बीन=चुगकर।

बेर=दफे, एक फल।

बिजन=पंखा, निर्जन।

नगन जड़ाती=आभूषणों में नग जड़ाती, नंगे शरीर जाड़ा खाती हैं।

(२)

चकत्ता=औरङ्ग़ज़ेब।

चितै चाह करषति है=शिवाजी की सेना की खबर सुनने को उत्सुक रहता है।

नारी फरकति है=डर के मारे कांप रहे हैं।

हहरि=भयभीत होकर।

भरकति है=डर कर भगती है।

धाक=गर्जन।

दरकति है=फटती है।

(३)

दुग्ग=दुर्ग।

गाजी=धर्म हेतु युद्ध करने वाला।

उग्ग=वायुमण्डल, शिव।

पनारेवाले=परनाले वाले।

तारे लगे फिरन=सौभाग्य उदय हुआ।

सितारे गढ़धर=शिवा जी।

दरके=फट गए।

(४)

समसेर=तलवार।

दिवाल=हद्द, सीमा।

दुनी=दुनिया।

मीड़े=मीजती है।

सेवा=शिवाजी।

परेवा=कबूतर।

तुरीगन=घोड़ों का दल।

करीगन=हाथियों का झुण्ड।

भावत=अच्छा लगता है।

भुवपाल=राजा।

निहाल=तृप्त।

रिझाए=प्रसन्न किया।

देव

(१)

ऐसे जुहौं जानत कि जैहै तू विषय के संग,
एरे मन मेरे हाथ पाँव तेरे तोरतौं ॥
आज लौ हौं कत नर-नाहन की नाहीं सुनि,
प्रेम सों निहारि हेरि बदन निहारतौं ॥
चलत न देतों देव चञ्चल अचल करि,
चाबुक चितावननि मारि मुँह मोरतौं ॥
भारो प्रेम पाथर नगारो दै गरे सों बाँधि,
राधावर विरद के वारिधि में बोरतौं ॥

(२)

पाँवनि नूपुर मंजु बजैं, कटि किंकिनि में धुनि की मधुराई ।
साँवरे अंग लसै पट पीत, हिए हुलसै बनमाल सुहाई ॥
माथे किरीट बड़े दृग चञ्चल, मन्द हँसी मुखचन्द जुन्हाई ।
जै जग-मन्दिर-दीपक सुन्दर, श्रीव्रज-दूलह 'देव' सहाई ॥

(३)

आई बरसाने ते बुलाई वृषभानु-सुता,
निरखि प्रभानि प्रभा भानु को अथै गई ॥
चक-चकवान के चकाए चकचोटन सौं,
चौंकत चकोर चकचौंधा-सी चकै गई ॥

'देव' नंदनंदन के नैनन अनन्दमयी,
नंदजू के मन्दिरन चंदमई छै गई ॥
कंजन कलिन मयी, कुञ्जन नलिनमयी,
गोकुल की गलिन अलिनमयी कै गई ॥

(४)

को हमको तुमसे तपसी बिन, जोग सिखावन आइहै ऊधो।
पै अब एही कहौ उनको, पिछली सुधि आवत है कबहू धो ?
एक भली भई भूप भए, जिन्है भूलि गयो दधि, माखन दूधो।
कूबरी-सी अति सूधी बधू, बरु पायो भलो घनश्याम-सो सूधो ॥
रावरो रूप रह्यो भरि नैननि, बैननि के रससों श्रुति सानो।
गात में देखत गात तुम्हारेई, बात तुम्हारिए बात बखानो ॥
उधो, हहा हरिसों कहियो, तुम हौ न इहाँ, यह हौं नहिं मानो।
या तन ते बिछुरे तो कहा, मनते अनते जु बसौ तब जानो ॥

(५)

सुनके धुनि चातक मोरन की,
चहुँ ओरन कोकिल कूकन सों।
अनुराग भरे बन बागन में,
हरि रागत राग अचूकन सों ॥
कवि 'देव' घटा उनई जु नई,
बन भूमि भई दल दूकन सों।

रगराती हरी हहराती लता,
झुकि जात समीर के झोंकन सों ॥

शब्दार्थ

कत=क्यों ।

नर-नाहन=राजाओं ।

हेरि=ढूँढ़ कर ।

कटि=कमर ।

जुन्हाई=चाँदनो ।

अनते=अन्यत्र ।

दल=पत्ते ।

—*—

गिरिधर कविराय

(१)

गुन को गाहक सहस नर, बिन गुन लहै न कोय।
जैसे कागा कोकिला, शब्द सुने सब कोय॥
शब्द सुने सब कोय, कोकिला सबै सुहावन।
दोऊ को इक रंग, काग सब भये अपावन॥
कह गिरधर कविराय, सुनो हो ठाकुर मनके।
बिन गुन लहै न कोय, सहस नर गाहक गुन के॥

(२)

साँई अवसर के परे, को न सहत दुख द्वन्द।
जाय बिकाने डोम घर, वे राजा हरिचन्द॥
वै राजा हरिचन्द, करे मरघट रखवारी।
धरे तपस्वी भेष, फिरे अर्जुन बलधारी॥
कह गिरिधर कविराय, तपे वह भीम रसोई।
को न करे घटि काम, परे अवसर के सांई॥

(३)

रही न रानी केकई, अमर भई यह बात।
कवन पुरखुले पाप ते, बन पठयो जग-तात॥
बन पठयो जग-तात, कंत सुरलोक सिधारेउ।
जेहि सुत कारज मरेउ राउ, नहिं बदन निहारेउ॥

कह गिरिधर कविराय, भई यह अकथ कहानी।
यश अपयश रहि गयउ, रही नहिं केकई रानी॥

(४)

पुत्र प्राण ते अधिक है, चारिउ युग परमान।
सो दशरथ नृप परिहरे, बचन न दीन्हों जान॥
बचन न दीन्हों जान, बड़न की बूझि बड़ाई।
बात रही सो काज, और बरु सरवस जाई॥
कह गिरिधर कविराय, भये नृप दशरथ ऐसे।
पुत्र प्राण परिहरे, बचन परिहरे न जैसे॥

(५)

साँई सब संसार में, मतलब का व्यवहार।
जब लगि पैसा गाँठ में, तब लगि ताको यार॥
तब लगि ताको यार, यार सँग ही सँग डोले।
पैसा रहा न पास, यार मुख से नहिं बोले॥
कह गिरिधर कविराय, जगत का याही लेखा।
करत बेगरजी प्रीति, यार हम बिरला देखा॥

(६)

झूठा मीठा बचन कहि, ऋण उधार ले जाय।
लेत परम सुख ऊपजे, लैके दियो न जाय॥
लैके दियो न जाय, ऊँच अरु नीच बतावे।
ऋण उधार की रीति, माँगते मारन धावे॥

कह गिरिधर कविराय, रहे जन मन में रूठा ।
बहुत दिनों ह्वै जाय, कहे तेरा कागद झूठा ॥

(७)

बिना बिचारे जो करे, सो पीछे पछताय ।
काम बिगारे आपनो, जग में होत हँसाय ॥
जग में होत हँसाय, चित्त में चैन न पावै ।
खान पान सन्मान, राग रँग मनहिं न भावै ॥
कह गिरिधर कविराय, दुःख कछु टरत न टारे ।
खटकत है जिय माहिं, कियो जो बिना विचारे ॥

(८)

साँई अपने चित्त की, भूल न कहिये कोय ।
तब लग मन में राखिये, जब लग कारज होय ॥
जब लग कारज होय, भूल कबहूँ नहिं कहिए ।
दुर्जन तातो होय, आप सीरे ह्वै रहिये ॥
कह गिरिधर कविराय, बात चतुरन के ताँई ।
करतूती कहि देत, आप कहिये नहिं साँई ॥

(९)

नैया मेरी तनिक सी, बोझी पाथर भार ।
चहुँ दिशि अति भौंरे उठत, केवट है मतवार ॥
केवट है मतवार, नाव मँझधारहिं आनी ।
आँधी चलत उदण्ड, तेहुँ पर बरसै पानी ॥

कह गिरिधर कविराय, नाथ हो तुमहिं खेवैया ।
उठहि दया को डाँड़, घाट पर आवै नैया ॥

(१०)

उरझी नाव कुठौर में, पड़ी भँवर बिच आय ।
दीनबन्धु अब तोहि बिन, को करि सकै सहाय ॥
को करि सकै सहाय, बहै करिया बिन नाउर ।
आँधी उठत प्रचण्ड, देखि अति आयो ताउर ॥
कह गिरिधर कविराय, नाथ बिन कब केहि सुरझी ।
ताते हा हा करौं, मोरि विपदा में उरझी ॥

शब्दार्थ

सहस=एक हज़ार ।
अपावन=अपवित्र ।
डोम=चाण्डाल ।
पुरबुले=पूर्व जन्म के ।
पठयो=भेजा ।
बेगरजी=बिना प्रयोजन के ।
तातो होय=क्रोध करे ।
सीरे ह्वै रहिये=शान्त स्वभाव रखिये ।
केवट=माँझी ।
खेवैया=नाव चलानेवाला ।
करिया=पतवार ।
नाउर=नाव ।
ताउर=मूर्छा ।

रसखान

(१)

मानुस हौं तो वही रसखानि, बसों ब्रजगोकुल गाँव के ग्वारन ।
जौ पसु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन ॥
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्यो कर छत्र पुरन्दर धारन ।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन ॥

(२)

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं ।
आठहुँ सिद्धि नवौ निधि को सुख नन्द की गाइ चराइ बिसारौं ॥
रसखानि कबौं इन आँखिन सों ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं ।
कोटिन हू कलधोत के धाम करीर के कुंजन ऊपर वारौं ॥

(३)

आयो हुतो नियरे रसखानि कहा कहूँ तू न गई वहि ठैया ।
या ब्रज में सिगरी बनिता सब वारति प्राननि लेत बलैया ॥
कोऊ न काहू की कानि करै, कछु चेटक सो जु कर्यों जदुरैया ।
गाइगो तान, जमाइगो नेह, रिझाइगो प्रान, चराइगो गैया ॥

(४)

सोहत हैं चँदवा सिर मौर के जेसियै सुन्दर पाग कसी है ।
तैसियै गोरज भाल बिराजति जैसी हिये बनमाल लसी है ॥
रसखानि बिलोकत बौरी भई दृग मूँदि कै ग्वालि पुकारि हँसी है ।
खोलि री घूँघट खोलौं कहा वह मूरति नैनन मांझ बसी है ॥

(५)

सेस, गनेस, महेस, दिनेस, सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि, अनन्त, अखण्ड, अछेद, अभेद, सुवेद बतावैं ॥
जाहि हिये लखि आनँद ह्वै जड़ मूल हिये रस-खानि कहावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछियाँ भरि छाछ पै नाच नचावैं ॥

(६)

तेरी गलीन में जा दिन तें निकसे मनमोहन गोधन गावत।
ये व्रज लोग सों कौन सो बात चलाइ कै जो नहिं नैन चलावत ॥
वे रसखानि जो रीझिहैं नेकु तो रीझि कै क्यों बनवारि रिझावत।
बावरी जो पै कलङ्क लग्यो तौ निसङ्क ह्वै क्यों नहिं अङ्क लगावत ॥

(७)

दानी भये नये माँगत दान हो जानि है कंस तो बन्धन जै हौ।
टूटे छरा बछरादिक गोधन जो धन है सो सबै धन दैहौ ॥
रोकत हो बन में रसखानि चलावत हाथ घनो दुख पैहौ।
जैहै जो भूषन काहू तिया को तो मोल छला के लला न बिकैहौ ॥

शब्दार्थ

मझारन=बीच में।
लकुटी=डण्डा।
आठहुँ सिद्धि=अणिमा, गरिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्त, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व।
कलधौत=सोना।
छोहरियां=लड़कियां।

वृन्द कवि*

गहत तत्वज्ञानी पुरुष, बात विचारि विचारि।
मथनहारि तजि छाछ कों, माखन लेति निकारि॥ १॥

निबल जानि कीजे नहीं कबहूँ वैर विवाद।
जीते कछु शोभा नहीं, हारे निंदावाद॥ २॥

क्षमा खड्ग लीने रहे, खल को कहा बसाय।
अगिन परी तृन-रहित थल, आपहि ते बुझि जाय॥ ३॥

धन अरु गेंद जो खेल को, दोऊ एक सुभाय।
कर में आवत छिनक में, छिन में करते जाय॥ ४॥

धन अरु जोबन को गरब, कबहूँ करिये नाहिं।
देखत ही मिट जात है, ज्यों बादर की छाँहि॥ ५॥

दान दीन को दीजिये, हरै दरद की पीर।
औषध ताको दीजिये, जाके रोग शरीर॥ ६॥

संत कष्ट सहि आपुही, सुखी करै जु समीप।
आप जरै तउ और को, करै उजेरो दीप॥ ७॥

सरसुति के भंडार की, बड़ी अपूरब बात।
ज्यों खरचे त्यों त्यों बढ़े, बिन खरचे घटि जात॥ ८॥

मति फिर जाय बिपत्ति में राव रंक इक रीत।
हेम हिरन पाछे गये, राम गँवाई सीत॥ ९॥

* वृन्द, कविता काल—१६८५ (लगभग)

पूजनीय गुण ते पुरुष, बयस न पूजित होय।
यज्ञ तिलक किय कृष्ण को छाँड़ि बड़े सब कोय ॥१०॥

पर को औगुन देखिये, अपनी दृष्टि न होय।
करै उजेरो दीप पै, तरे अँधेरो होय ॥ ११ ॥

उत्तम जन सों मिलत ही, अवगुन हूँ गुन होय।
घन सँग खारो उदधि मिलि, बरसै मीठो तोय ॥ १२ ॥

उद्यम कबहूँ न छाँड़िये, पर आशा के मोद।
गागर कैसे फोरिये, उनयो देखि पयोद ॥ १३ ॥

श्रम ही सों सब मिलत है, बिन श्रम मिले न काहि।
सीधी अँगुरी घी जम्यो, क्यों हूँ निकसत नाहिं॥ १४ ॥

अनपूछे ही जानिये, मूढ़ देख मनमाहिं।
छलकें ओछे नीर घट, पूरे छलकैं नाहिं ॥ १५ ॥

आप अकारज आपनो, करत कुसंगति साथ।
पाँय कुल्हाड़ा देत है, मूरख अपने हाथ ॥ १६ ॥

जाही से कछु पाइये, करिये ताकी आस।
रीते सरवर पर गये, कैसे बुझत पियास ॥ १७ ॥

जाहि बड़ाई चाहिये, तजै न उत्तम साथ।
ज्यों पलास सँग पानके, पहुँचे राजा हाथ ॥ १८ ॥

बचन पारखी होहु तुम, पहिले आपन भाख।
अनपूछे कहिये नहीं, यही सीख जिय राख ॥ १९ ॥

उत्तम विद्या लीजिये, यदपि नीच पै होय ।
परो अपावन ठौर में, कञ्चन तजत न कोय ॥२०॥

जो तू चाहे अधिक रस, सीख ईख से लेय ।
जो तोसे अनरस करै, ताहि अधिक रस देय ॥२१॥

घर-घर कबहुँ न जाइये, गये घटत है जोत ।
रवि-मण्डल में जात शशि, छीन कला छवि होत ॥२२॥

जो पहिले कीजै यतन, सो पाछे फलदाय ।
आग लगे खोदे कुआँ, कैसे आग बुझाय ॥२३॥

काम परै ही जानिये, जो नर जैसो होय ।
बिन ताये खोटो खरो, गहना लखै न कोय ॥२४॥

गुनवारो सम्पति लहै, लहै न गुन बिन कोय ।
काढ़े नीर पताल सों, जो गुनयुत घट होय ॥२५॥

होत सुसंगति सहज सुख, दुख कुसंग के थान ।
गन्धी और लुहार की, देखो बैठि दुकान ॥२६॥

सज्जन को दुख हू दिये, दुर्जन पूरे आस ।
जैसे चन्दन को घिसे, सुन्दर देत सुबास ॥२७॥

मधुर बचन ते जात मिट, उत्तम जन अभिमान ।
तनक सीत जल सों मिटै, जैसे दूध उफान ॥२८॥

सुख सज्जन के मिलन को, दुर्जन मिले जनाय ।
जाने ऊख मिठास को, जो मुख नीम चबाय ॥२९॥

खाय न खरचै सूम धन, चोर सबै ले जाय ।
पीछे ज्यों मधु मक्षिका, हाथ मलै पछताय ।।३०।।

शब्दार्थ

गहत=ग्रहण करता है ।

खड्ग=तलवार ।

बसाव=बस चलता है ।

तोय=जल ।

उनयो=उमड़ा हुआ ।

पयोद=बादल ।

छलकै=उछलता है ।

रीता=खाली ।

पारखी=परखनेवाले ।

आख=बोलो ।

सीख=उपदेश ।

जिय=हृदय, दिल ।

अनरस करे=बिगाड़ करे ।

जोत=ज्योति ।

गुनयुत=रस्सी सहित ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

[हिन्दी भाषा को वर्तमान अवस्था में पहुँचाने का श्रेय कविवर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र बंगाल के इतिहास-प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द के वंश के थे। आपका जन्म सन् १८५० में हुआ। बचपन से ही इनकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी। एक कथा है कि इनके पिता बाबू गोपालचन्दजी "बलराम कथा-मृत" की रचना कर रहे थे। उन्होंने उनके पास जाकर कहा कि हम भी कविता करेंगे। पिता ने कहा कि तुम्हें उचित तो यही है। उस समय बाणासुर का प्रसंग लिखा जा रहा था। इन्होंने यह दोहा बनाया :—

लै ब्योंड़ा ठाड़े भये, श्री अनिरुद्ध सुजान।
बानासुर की सैन को, हनन लगे हनुमान॥

जब भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने यह दोहा लिखा, उस समय इनकी अवस्था केवल ५ वर्ष की थी।

नौ वर्ष की अवस्था में ही ये पितृहीन हो गये। इनकी स्वतन्त्र प्रकृति को और भी स्वच्छन्दता मिल गई। इसी समय इन्होंने विद्या पढ़ना प्रारम्भ किया। ये सब परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते रहे! १८६४ में ये अपनी माता के साथ श्री जगदीशजी की यात्रा को गये। यात्रा से लौटने पर इनकी रुचि कविता और देशहित में बढ़ी।

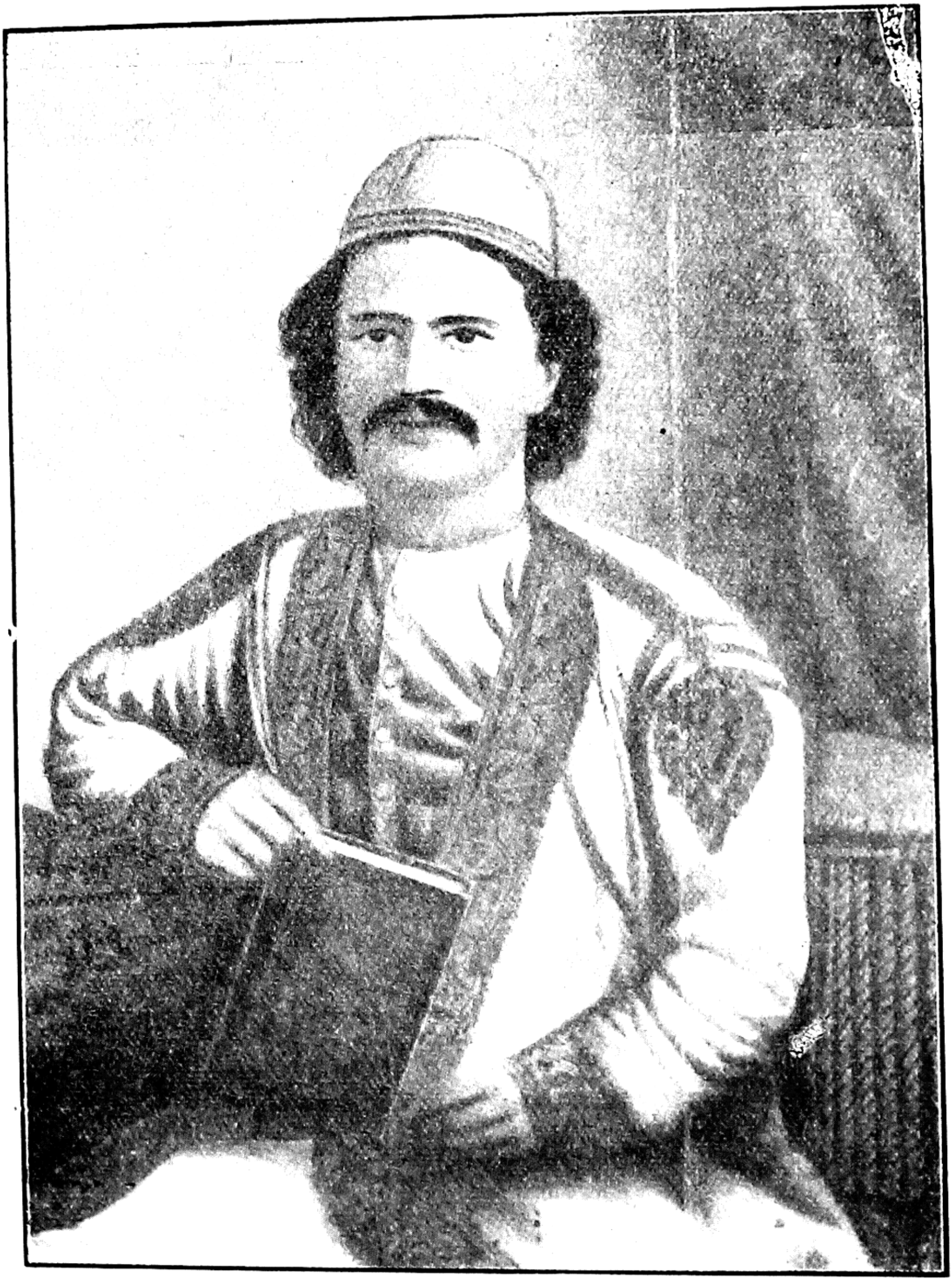
इन्होंने एक स्कूल खोला जो आजकल हरिश्चन्द्र हाई स्कूल के नाम से प्रसिद्ध है।

१८७० में ये आनरेरी मजिस्ट्रेट बनाए गए। किन्तु कुछ समय के पश्चात् इन्होंने यह पद स्वयं त्याग दिया।

भारतेन्दु बड़े उदार हृदय के थे। कितने ही मनुष्यों को पुरस्कार दे दे कर इन्होंने सुकवि और लेखक बना दिया। ये एक एक पद्य पर कई कई सौ रुपये दे डालते। इसी उदारता से अन्त में ये ऋणग्रस्त हो गये। १८८० में भारत के समस्त समाचार पत्रों ने इनको भारतेन्दु की पदवी से विभूषित किया। १८८५ में भारतेन्दु अस्त हो गया।]

(१)

नव उज्जल जलधार हार हीरक सी सोहत।
बिच बिच छहरित बूंद मध्य मुक्ता मनि पोहत॥
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत।
जिमि नर-गन मन बिबिध मनोरथ करत मिटावत॥
सुभग स्वर्ग सोपान सरिस सब के मन भावत।
दरसन, मज्जन, पान, त्रिविध भय दूर मिटावत॥
श्री हरि-पद-नख चन्द्रकान्त-मनि-द्रवित सुधारस।
ब्रह्म कमण्डल मण्डन भव खण्डन सुर-सरबस॥
शिव-सिर-मालति-माल भगीरथ नृपति-पुण्य-फल।
ऐरावत-गज-गिरिपति-हिम-नग-कण्ठहार कल॥
सगन-सुवन सठ सहस परस जल मात्र उधारन।
अगनित धारा रूप धारि सागर संचारन॥



भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

Hindustan Times Press, Delhi.

कासी कहँ प्रिय जानि ललकि भेंट्यो जग धाई ।
सपने हूँ नहिं तजी रही अंकम लपटाई ।।
कहूँ बंधे नव घाट उच्च गिरिवर सम सोहत ।
कहुँ छतरी कहुँ मढ़ी बढ़ी मन मोहत जोहत ।।
धवल धाम चहुँ ओर फरहरत ध्वजा पताका ।
घहरत घंटा धुनि धमकत धौंसा करि साका ।।
मधुरी नौबत बजत कहूँ नारी नर गावत ।
वेद पढ़त कहुँ द्विज कहुँ जोगी ध्यान लगावत ।।
कहुँ सुन्दरी नहात नीर कर जुगल उछारत ।
जुग अम्बुज मिलि मुक्त गुच्छ मनु सुच्छ निकारत ।।
धोवत सुन्दरि बदन करन अति ही छबि पावत ।
वारिधि नाते ससि कलङ्क मनु कमल मिटावत ।।
सुन्दरि ससि-मुख नीर मध्य इमि सुन्दर सोहत ।
कमल बेलि लहलही नवल कुसुमन मन मोहत ।।
दीठि जहीं जहँ जात रहत तितहीं ठहराई ।
गंगा छबि हरिचन्द कछू बरनी नहिं जाई ।।

(२)

जिनके हितकारी पंडित हैं तिनको कहा सत्रुन को डर है ।
समुझैं जग में सब नीतिन्ह जो तिन्हे दुर्ग विदेस मनो घर है ।।
जिन मित्रता राखी है लायक सों तिनकों तिनकाहू महासर है ।
जिनकी परतिज्ञा टरै न कबौं तिनकी जय ही सब ही थर है ।।

(३)

जग सूरज चन्द टरैं तो टरैं पै न सज्जन नेह कबौं बिचलै ।
धन संपति सर्वस गेहु नसौ नहिं प्रेम की मेंड़ सो एँड़ टलै ॥
सतवादिन को तिनका सम प्रान, रहै तौ रहै वा ढलै तौ ढलै ॥
निज मोत की प्रीत प्रतीत रहौ इक ओर सबै जग जाउ भलै ॥

(४)

जगत में घर की फूट बुरी ।
घर की फूटहिं सों बिनसाई सुबरन लंकपुरी ।
फूटहिं सो सब कौरव नासे भारत युद्ध भयो ॥
जाको घाटो या भारत में अबलों नहिं पुजयो ॥
फूटहिं सों जयचंद बुलायो जवनन भारत धाम ।
जाको फल अघलौं भोगन सब आरज होइ गुलाम ॥
फूटहिं सों नव नंद बिनासे गयो मगध को राज ।
चन्द्रगुप्त को नासन चाह्यो आपु नसे सह साज ॥
जो जग में धन मान और बल अपुनी राखन होय ।
तो अपने घर मैं भूले हू फूट करो मति कोय ॥

शब्दार्थ

लोल=चञ्चल ।

मण्डन=सुशोभित करनेवाली ।

मालति-माल=मालती की माला ।

ललकि=उमग उमग कर ।

साका=शब्द ।

नौबत=सहनाई ।

वारिधनाते=कमल और चन्द्रमा का जन्म समुद्र में हुआ, इस लिये दोनों में भाई भाई का नाता है। स्त्रियों के कर-कमल, मुखचन्द्र की कालिमा को मिटा रहे हैं ।

श्रीधर पाठक

पाठक जी प्रकृति सौन्दर्य के बड़े प्रेमी थे। प्रथम बार शिमला जाकर हिमालय का सौन्दर्य देखने का इन्हें अवसर मिला। आप खड़ी बोली और व्रजभाषा दोनों में कविता करते थे। लोग इन्हें खड़ी बोली का आचार्य कहते हैं। इन्होंने तीन अंगरेज़ी के ग्रन्थों का पद्यानुवाद किया। आप हिंदी साहित्य सम्मेलन लखनऊ के सभापति बनाए गये। एकान्तवासी योगी, ऊजड़ ग्राम, श्रान्त पथिक, काश्मीर-सुषमा इत्यादि इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

एञ्जेलीना का आत्म-परिचय

टाइन नदी के रम्य तीर पर भूमि मनोहर हरियाली।
लटक रहीं, झुक रहीं, जहां द्रुमलता, छुएं जल से डाली॥
चिपटा हुआ उसी के तट से, उज्ज्वल उच्च विशाल।
शोभित है एक महल बाग़ में, आगे है एक ताल॥ १॥
उस समग्र बन, भवन, बाग का मेरा बाप ही स्वामी था।
धर्मशील, सत्कर्मनिष्ट वह ज़मीदार एक नामी था॥
बड़ा धनाढ्य, उदार, महाशय, दीन-दरिद्र-सहाय।
कृषिकारों का प्रेम पात्र, सबविधि सद्गुण-समुदाय॥ २॥
मेरी बाल्य-अवस्था ही में मां ने किया स्वर्ग प्रस्थान।
रही अकेली साथ पिता के, थी मैं उसकी जीवन-प्रान॥
बड़े स्नेह से उसने मुझको पाला पोसा आप।
सब कन्याओं को परमेश्वर देवे ऐसा बाप॥ ३॥

हिन्दी काव्य कुंज



श्रीधर पाठक

Hindustan Times Press, Delhi.

दो घंटे तक नित्य मुझे वह श्रम से आप पढ़ाता था।
विद्या विषयक विविध चातुरी, नित्य नई सिखलाता था॥
करूँ कहाँ तक वर्णन उसकी अतुल दया का भाव।
हुआ न होगा किसी पिता का ऐसा मृदुल स्वभाव॥ ४॥

मैं ही एक बालिका उसके सत्कुल में जीवित थी शेष।
इससे स्वत्व बाप के धन का प्राप्य मुझी को था निश्शेष॥
था यथार्थ में गेह हमारा सब प्रकार सम्पन्न।
ईश्वर-तुल्य पिता के सन्मुख, थी मैं पूर्ण प्रसन्न॥ ५॥

हमजोली की सखियों के संग, पढ़ने-लिखने का आनन्द।
परम-प्रीति-युत प्यार परस्पर, सबविधि सदा सुखी स्वच्छन्द॥
सुख ही सुख में बीता मेरा बचपन का सब काल।
और उसी निश्चिन्त दशा में लगी सोलवीं साल॥ ६॥

मुझे पिता की गोदी में से अलगाने के अभिलाषी।
आने लगे अनेक युवक अब दूर दूर तक के वासी॥
भाँति-भाँति से करें प्रगट, वह अपने मन का भाव।
बार बार दरशाय बुद्धि, विद्या, कुल, शील, स्वभाव॥ ७॥

पूर्ण रूप से मोहित मुझ पर अपना चित जनाते थे।
उपमा-सहित रूप को मेरे विविध बड़ाई गाते थे॥
नित्य-नित्य बहुमूल्य वस्तुओं के नवीन उपहार।
लाकर धरें करें शुश्रूषा युवक अनेक प्रकार॥ ८॥

उनमें एक कुमार एडविन, प्रेमी प्रतिदिन आता था।
वय किशोर, सुन्दर सरूप, मन जिसको देख लुभाता था ॥
वारै था वह मेरे ऊपर, तन, मन, सर्वस, प्रान।
किन्तु मनोरथ अपना उसने कभी प्रकाश किया न ॥ ९ ॥

साधारण अति रहन-सहन,मृदु बोल हृदय हरने वाला।
मधुर-मधुर मुस्कान मनोहर, मनुजबंस का उजियाला ॥
सभ्य, सुजन, सत्कर्म-परायण, सौम्य, सुशील, सुजान।
शुद्ध-चरित्र, उदार-प्रकृति शुभ विद्या बुद्धि-निधान ॥ १० ॥

नहीं विभव कुछ धन धरती का, न अधिकार कोइ उसको था।
गुण ही थे केवल उसका धन, सो धन सारा मुझ को था ॥
उस अलभ्य धन के पाने को, थे नहिं मेरे भाग।
हा धिक व्यर्थ प्राण धारण! धिक जीवन का अनुराग ॥ ११ ॥

प्राणपियारे की गुण-गाथा, साधु, कहां तक मैं गाऊँ।
गाते-गाते चुके नहीं वह, चाहे मैं ही चुक जाऊँ ॥
विश्व-निकाई विधि ने उसमें की एकत्र बटोर।
बलिहारौं त्रिभुवन-धन उस पर, वारौं काम करोर ॥ १२ ॥

मूरत उसकी बसी हृदय में, अब तक मुझे जलाती है।
फिर भी मिलने की दृढ़ आशा, धीरज अभी बंधाती है।
करती हूँ दिन-रात उसी का आराधन और ध्यान।
वोही मेरा इष्टदेव है, वोही जीवन-प्रान ॥ १३ ॥

जब वह मेरे साथ टहलने शैल-तटो में जाता था।
अपनी अमृतमयी वाणी से, प्रेमसुधा बरसाता था ॥
उसके स्वर से हो जाता था वनस्थली का ठाम।
सौरभ-मिलित, सुरस-रव-पूरित, सुर-कानन सुख धाम ॥१४॥

उसके मन की सुघराई की उपमा उचित कहाँ पाऊँ।
मुकुलित नवल कुसुम-कलिका सम कहते फिर फिर सकुचाऊँ ॥
यद्यपि ओस बिन्दु अति उज्ज्वल, मुक्ता विमल अनूप।
किन्तु एक परमाणु-मात्र भी नहिं उसके अनुरूप ॥ १५ ॥

तरु पर फूल, कमल पर जल कण सुन्दर परम सुहाते हैं।
अल्पकाल के बीच किन्तु वे कुम्हलाकर मिट जाते हैं ॥
उनकी उसमें रही मोहनी, पर मुझको धिक्कार।
केवल एक क्षणिकता मुझमें थी उनके अनुसार ॥ १६ ॥

क्योंकि रूप के अहङ्कारों में हुई चपल, चञ्चल और ढीठ।
प्रेम-परीक्षा करने को मैं उसको लगी दिखाने पीठ ॥
थी यथार्थ में यद्यपि उस पर तन मन से आसक्त।
किन्तु बनाय लिया ऊपर से, रूखा रूप, विरक्त ॥ १७ ॥

पहुँचा उसे खेद इससे अति, हुआ दुखित अत्यन्त उदास।
तज दी अपने मन में उसने मेरे मिलने की सब आस ॥
मैं यह दशा देखने पर भी, ऐसी हुई कठोर।
करने लगी अधिक रूखापन, दिन-दिन उसकी ओर ॥ १८ ॥

होकर निपट निराश अन्त को, चला गया वह बेचारा।
अपने उस अनुचित घमण्ड का फल मैंने पाया सारा॥
एकाकी में जाकर उसने तोड़ जगत से नेह।
धोकर हाथ प्रीति से मेरी, त्याग दिया निज देह॥ १९॥
किन्तु प्रेमनिधि, प्राणनाथ को भूल नहीं मैं जाऊँगी।
प्राणदान के द्वारा मैं ऋण उनका आप चुकाऊँगी॥
उस एकान्त ठौर को मैं अब ढूँढ़ू हूँ दिन रैन।
दुख की आग बुझाय जहाँ पर दूँ इस मन को चैन॥ २०॥
जाकर वहाँ जगत को मैं भी उसी भाँति बिसराऊँगी।
देह-गेह को देय तिलाञ्जलि, पिय से प्रीति निभाऊँगी॥
मेरे लिये एडिविन ने ज्यों किया प्रीति का नेम।
त्यों ही मैं भी शीघ्र करूँगी, परिचित अपना प्रेम॥ २१॥

वन-शोभा

चारु हिमाचल-आँचल में, एक साल बिसालन कौ बन है।
मृदु मर्मर शील झरै जल-स्रोत हैं, पर्वत ओट है निर्जन है॥
लिपटे हैं लताद्रुम, गान में लीन, प्रवीन विहंगन कौ गन है।
भटक्यौ तहाँ रावरो भूल्यो फिरै, मद बावरो सौ अलि को मन है॥
भारत में वन! पावन तू ही, तपस्वियों का तप-आश्रम था।
जग तत्व की खोज में लग्न जहाँ ऋषियोंने अभग्न किया श्रम था॥
जब प्राकृत विश्व का विभ्रम और था, सात्विक जीवन का क्रम था।
महिमा बन-वास की थी तब और, प्रभाव पवित्र अनूपम था॥

शब्दार्थ

अतुल=अनुपम ।

स्वत्व=अधिकार ।

प्राप्य=मिलने योग्य ।

शुश्रूषा=सेवा ।

अलभ्य=बहुमूल्य ।

ठाम=स्थान ।

विश्वनिकाई=संसार की सुन्दरता ।

आसक्त=मोहित ।

गेह=घर ।

अभग्न=अटूट ।

विभ्रम=भ्रम ।

अनूपम=अति उत्तम ।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

[आपका जन्म ज़िला रायबरेली में एक गांव में हुआ। प्रारम्भ में इन्होंने अपने गांव की पाठशाला में हिन्दी और उर्दू का अभ्यास किया। पाठशाला की पढ़ाई समाप्त करने पर यह रायबरेली के हाई स्कूल में अँगरेजी पढ़ने गये। अँगरेजी के साथ इनकी दूसरी भाषा फ़ारसी थी। कुछ दिनों के पश्चात् ये अपने पिता के पास बम्बई चले गये और वहाँ इन्होंने गुजराती, मराठी, संस्कृत, अँगरेजी का खूब अभ्यास किया और रेलवे में नौकरी कर ली।

हिन्दी कविता की ओर इनकी रुचि बाल्यकाल से ही थी। नौकरी की हालत में ये हिन्दी की सेवा बराबर किया करते थे। नौकरी छोड़ने के बाद तो ये बिलकुल स्वतन्त्र होकर हिन्दी साहित्य की सेवा में लग गये। अपने परिश्रम से ही इन्होंने अच्छी विद्वत्ता प्राप्त की है। एक व्यक्ति परिश्रम से कहां तक योग्यता प्राप्त कर सकता है द्विवेदी जी इसके आदर्श हैं।

खड़ी बोली की कविता की आजकल जो उन्नति है उसके प्रधान कारण द्विवेदी जी ही हैं। इनके प्रोत्साहन से कितने ही नये कवि और लेखक बन गये। आपकी गद्य लिखने की एक नवीन शैली है। द्विवेदी जी का अँगरेजी, संस्कृत, उर्दू, फ़ारसी मराठी, बंगला, गुजराती आदि भाषाओं में अच्छा अधिकार है। आपने कई स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे हैं।

आपने लगभग बीस वर्ष तक 'सरस्वती' का सम्पादन किया था और आपके कारण हिन्दी भाषा की बड़ी उन्नति हुई।]

मैं कौन हूँ ? किस लिए यह जन्म पाया ?
क्या क्या विचार मन में किसने पठाया ?
माया किसे, मन किसे- किसको शरीर ?
आत्मा किसे कह रहे सब धर्म धीर ? ॥१॥
क्यों पाप-पुण्य-पचड़ा जग बीच छाया ?
माया प्रपंच रच क्यों सब को भुलाया ?
आया मनुष्य फिर अन्त कहाँ सिधारे ?
ये प्रश्न क्यों न जड़ जीव सदा विचारे ? ॥२॥
नाना प्रकार जग में जन जन्म पाते ।
पीते तथा नित यथा-विधि खाद्य खातें ॥
तौ भी सदैव मरते सब जीवधारी ।
क्यों अल्प कालिक हुई फिर सृष्टि सारी ? ॥३॥
क्या वस्तु मृत्यु ? जिसके भय से बिचारे ।
होते प्रकम्प-परिपूर्ण मनुष्य सारे ?
क्या बाघ है ? विशिख है ? अहि है विषारी ?
किंवा विशालतम तोप दृढ़ाङ्ग धारी ? ॥४॥
पृथ्वी-समुद्र-सरिता-नर-नाग-सृष्टि ।
माङ्गल्य-मूलमय वारिद-वारि-वृष्टि ॥
कर्तार कौन इनका ? किस हेतु नाना—
व्यापार-भार सहता रहता महाना ? ॥५॥
विस्तीर्ण विश्व रच लाभ न जो उठाता ।
स्रष्टा समर्थ उसको फिर क्यों बहाता ?

जो हानि लाभ उसको कुछ भी न होता ।
तो मूल्यवान् फिर क्यों निज काल खोता ? ।।६।।
कोई सदैव सुख-युक्त करे विहार ।
कोई अनेक विधि दुःख सहे अपार ।।
जो भेद भाव सब में यह विद्यमान ।
क्या बीज-वस्तु उसकी जग में प्रधान ? ।।७।।
तेजोनिधान रवि-बिम्ब सुदीप्ति धारी ।
आह्लादकारक शशी निशिताप हारी ।।
जो ये प्रकाशमय पिण्ड गये बनाये ।
तो व्योम बीच कब ये किस भाँति आये ? ।।८।।
क्यों एक देश सहसा बल-वृद्धि पाता ?
क्यों अन्य दीघ दुख-सागर में समाता ?
ये खेल कौन किस कारण खेलता है ?
क्यों नित्य त्यि सुख में दुख मेलता है ? ।।९।।
ये हैं ममत्व-परिपूरित प्रश्न सार ।
एकान्त जो नर करैं इनका विचार ।।
होवें अवश्य जन वे जग में महान ।
सज्ञान और वर बुद्धि विवेकवान ।।१०।।

शब्दार्थ

पचड़ा=प्रपञ्च ।

प्रकम्प=कांपना ।

आह्लादकारी=आनन्ददायी ।

रामनरेश त्रिपाठी

सज्जन

(१)

चिर-कृतज्ञ, सदा उपकार में—
निरत, पुण्य-चरित्र अनेक हैं।
परहितोद्यत स्वार्थ बिना कहीं,
विरल मानव हैं इस लोक में ।।१।।

सहज तत्परता शुभ कार्य में,
विनयिता छलहीन वदान्यता।
पर अनिन्दकता गुण-ग्राहिता,
पुरुष-पुंगव के शुभ चिन्ह हैं ।।२।।

निज बड़प्पन की सुनके कथा,
सकुचता जिसका चित चारु है।
विकसता सुनके पर-कीर्ति है,
जगत में वह सज्जन धन्य है ।।३।।

सुजन की यह एक विचित्रता,
वहुत रोचक और मनोज्ञ है।
समझ के धनको तृण तुल्य भी,
नमित हैं रहते उस भार से ।।४।।

वचन निश्चित सिंधुर-दंत सा,
सुजन हैं सविवेक निकालते ।
कमठ के मुख सी खलकी गिरा,
निकलती लुकती बहुबार है ।।५।।

सुजन के उर बीच कठोरता,
कुलिश से बढ़के रहती न जो ।
वचन-शायक दुष्ट मनुष्य के,
सह भला सकते किस भाँति वे ।।६।।

पड़ महज्जन घोर विपत्ति में,
निज महत्व कभी तजते नहीं ।
पड़ कपूर हुताशन बीच भी,
सुरभि है चहुँ ओर पसारता ।।७।।

भव पराभव में जिसके नहीं,
उपजता कुछ हर्ष विषाद है ।
समरधीर गुणी उस पुत्र को,
विरल है जननी जनती कहीं ।।८।।

वदन में मुद भाषण में सुधा,
हृदय में जिसके रहती दया ।
परहितेच्छुक सो इस लोक में,
पुरुष-पुंगव पूजन योग्य है ।।९।।

उपजता उर में न कदापि है,
यदि हुआ, क्षण में गत होगया ।
यदि रहा, समझो वह व्यर्थ है,
खल-कृपा सम सज्जन कोप है ।।१०।।

विटप छिन्न हुआ बढ़ता पुनः,
न रहती विधु में नित क्षीणता !
सुजन के मनमें यह देख के,
विकलता बढ़ती न विपत्ति में ।।११।।

जल न पान स्वयं करती नदी,
फल न पादप हैं चखते स्वयं ।
जलद सस्य स्वयं चखते नहीं,
सुजन-वैभव अन्य हितार्थ है ।।१२।।

सुजन सूप समान सदैव ही,
सुगुण हैं गहते तज दोष को ।
खल सदा चलनी सम दोष ही,
ग्रहण हैं करते गुण छोड़ के ।।१३।।

यश मिले अथवा अपकीर्ति हो,
धन रहे न रहे कुछ क्यों न हो ।
हृदय में रहते तक प्राण के,
बुध नहीं तजते पथ धर्म का ।।१४।।

(२)

निर्मल नीरव निशीथिनी हो,
निद्रावश हो जब समस्त जग।
चन्द्र-कला में नहा रहे हों,
चारों ओर तुषार-धवल-नग।
जब रह जाय श्रवण में केवल,
अपने एक हृदय की धड़कन।
तब उर अन्तरयामी हरि की,
पद-गति क्यों न श्रवण करता मन॥

(३)

खोल चन्द्र की खिड़की जब तू,
स्वर्ग—द्वार से हँसता है।
पृथ्वी पर नवीन जीवन का,
नया विकास विकसता है॥
जी में आता है किरणों में,
घुल कर केवल पल भर में।
बरस पड़ूँ मैं इस पृथ्वी पर,
विस्तृत शोभा सागर में॥

(४)

हरित तलहटी में गिरिवर की,
समतल निर्भर ध्वनित धरा पर।

छाया में अति सघन द्रुमों की,
बैठ विशद हरिताभ शिला पर ॥
मन्द मन्द मारुत से क्रीड़ित,
पुष्पित सुरभित मधुप निरख कर ।
जाता हूँ मैं भूल जगत को,
बार बार अनिमेष देखकर ॥

(५)

बदन प्रफुल्ल दया धर्म में प्रवृत्त मन,
मधुर विनीत वाणी मुख से सुनाते हैं ।
प्रेमी देश जाति के अनिन्दक अमानी सदा,
हेर हेर बिछुड़े जनों को अपनाते हैं ॥
परसुख देख जो न होते हैं मलीन चित्त,
दीन बलहीन को सहाय पहुँचाते हैं ।
ऐसे नर-रत्न विश्व-भूषण उदार धीर,
ईश्वर के प्यारे महापुरुष कहाते हैं ॥

हैट के गुण

(६)

दृग को दिमाग को ललाट को श्रवण को भी,
धूप से बचाती अति सुख पहुँचाती है ।
बीट से बचाती, मार पीट से बचाती यह,
अपढ़ देहातियों में भय उपजाती है ॥

पर इस में है उपयोगिता विचित्र एक,
योरोप-निवासियों की बुद्धि में जो आती है।
सिर पर रख हैट चाहे जो अनर्थ करो,
हैट यह ईश्वर की दृष्टि से बचाती है ॥

शब्दार्थ

निरत=तल्लीन।

वदान्यता=दानशीलता।

अनिन्दकता=किसी की निन्दा न करना।

पुंगव=श्रेष्ठ।

सिंधुर=हाथी।

कमठ=कछुआ।

हुताशन=अग्नि।

सस्य=अनाज।

निशीथिनी=आधी रात।

तुषार-धवल-नग=वर्फ से ढके हुए उज्ज्वल पर्वत।

हरिताभ=शिलाविशेष।

सुमित्रानन्दन पन्त

[परिडत सुमित्रानन्दन पन्त का जन्म ता० २४ मई सन् १६०० को जिला अलमोड़ा में हुआ। उन्नीस साल की अवस्था में इन्होंने मैट्रिक पास किया। फिर प्रयाग के म्योर सेराट्रल कालेज में पढ़ना प्रारम्भ किया किन्तु सन् १६२० से सेकिराड ईयर क्लास से कालेज छोड़ दिया। अब वे बिलकुल स्वतंत्र हैं। कभी घर और कभी प्रयाग रहते हैं। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में इन्होंने एक उपन्यास लिखा था और इसी अवस्था में इन्होंने नियमपूर्वक हिंदी कविता लिखना प्रारम्भ किया। रामनरेश जी लिखते हैं कि " पन्त जी की कविताएं हिंदी में बिलकुल नये ढंग की हैं। हिंदी कविता में नये युग के प्रवर्तकों में इनकी गणना की जाती है। मनोभावों और अंगों के इङ्गित इशारों को साकार पदार्थ मानकर ये उसपर कल्पना करते हैं। इस प्रकार की कविता हिंदी के पुराने ढर्रे के कवियों और कविता के प्रेमियों को कम रुचेगी किन्तु नवयुवकों में आजकल इसका प्रचार बड़ी तेजी से हो रहा है यह रुक नहीं सकता।"

वास्तव में पन्त जी एक सहृदय कवि हैं। आपके द्वारा हिंदी साहित्य का गौरव बढ़ेगा ऐसी विद्वानों की भावना है। आप बड़े ही मिलनसार, मधुर-भाषी, सुन्दर और सुघर हैं।]

छाया

कौन कौन तुम परिहत वसना,
म्लान-मना भू पतिता सी;
नियति-वञ्चता आश्रय-रहिता,
जर्जरिता पद-दलिता सी,

धूलि धूसरित मुक्त-कुन्तला-
किसके चरणों की दासी ?

कहो कौन हो दमयन्ती सी,
तुम तरु के नीचे सोई ?
हाय ! तुम्हें भी त्याग गया क्या,
अलि ! नल-सा निष्ठुर कोई ?

पीले पत्रों की शय्या पर,
तुम विरक्ति-सी-मूर्छा सी ।
विजन विपिन में कौन पड़ी हो,
विरह-मलिन दुख-विधुरा सी ?

निर्जनता के मानस पट पर,
बार बार भर ठण्डी साँस ।
क्या तुम छिप कर क्रूर काल का,
लिखती हो अकरुण इतिहास ?

सखि ! भिखारिणी-सी तुम पथपर,
फैला कर अपना अञ्चल।
सूखे पातों ही को पा क्या,
प्रमुदित रहती हो प्रतिपाल ?

कभी लोभ-सी लम्बी होकर,
कभी तृप्ति सी हो फिर पीन।
क्या संसृति की अचिर भूति तुम,
सजनि नापती हो स्थिति-हीन ॥

गाओ गाओ विहग बालिके,
तरुवर से मृदु मंगल गान।
मैं छाया में बैठ तुम्हारे—
कोमल स्वर में करलूँ स्नान ॥

माँ

करुणा-क्रन्दन करने दो !
अविरल स्नेह-अश्रु-जल से माँ !
मुझ को मति-मल धोने दो !

दग्ध-हृदय की विरह-व्यथा को,
हरने दो, माँ ! हरने दो !!
मुझे चरण में शीश नवाकर,
अवनत-वदना होने दो !

उर-इच्छा को एक आह बन,
झरने दो, माँ ! झरने दो
मानस-शय्या पर मेरी इन,
वाञ्छाओं को सोने दो !
अपना आञ्चल निज स्वप्नों से
भरने दो, माँ ! भरने दो !
द्रोह, मोह, छल, मदन मद मुझे
निज सङ्गति से खोने दो !
हाथ पकड़, यह विश्व-महोदधि
तरने दो, माँ ! तरने दो !

(३)

मैं सबसे छोटी होऊं,
तेरी गोदी में सोऊं,
तेरा अंचल पकड़ पकड़ कर,
फिरूं सदा माँ ! तेरे साथ।
कभी न छोड़ूं तेरा हाथ !
बड़ा बना कर पहिले हमको,
तू पीछे छलती है मात !
हाथ पकड़ फिर सदा हमारे,
साथ नहीं फिरती दिन-रात।
अपने कर से खिला, धुला मुख,

धूल पोंछ, सज्जित कर गात,
थमा खिलौने, नहीं सुनाती,
हमें सुखद परियों की बात।
ऐसी बड़ी न होऊँ मैं,
तेरा स्नेह न खोऊँ मैं।
तेरे अञ्चल की छाया में,
छिपी रहूँ निस्पृह, निर्भय।
कहूँ—दिखा दे चन्द्रोदय!

शब्दार्थ

परिहृत वसना = वस्त्र रहित।

नियति वञ्चिता = अभागिनी।

कुन्तला = केश वाली।

विधुरा = विकल स्त्री।

पीन = मोटी।

संसृति = सृष्टि।

अविरल = जो न रुके।

अवनत-वदना = झुके हुए सिर वाली।

वाञ्छाओं = इच्छाओं।

मैथिलीशरण गुप्त

दुर्भिक्ष

(१)

दुर्भिक्ष मानों देह धरके, घूमता सब ओर है,
हा ! अन्न, हा ! हा ! अन्न, का रव गूँजता घनघोर है।
सब विश्व में, सौ वर्ष में, रण में, मरे जितने हरे !
जन चौगुने उनके यहाँ दस वर्ष में भूखों मरे !!!

(२)

सड़ते प्रभञ्जन से यथा तप-मध्य सूखे पत्र हैं,
लाखों यहाँ भूखे भिखारी घूमते सर्वत्र हैं !
है एक चिथड़ा ही बगल में और खप्पर हाथ में,
नंगे तथा रोते हुए बालक बिकल हैं साथ में।

(३)

आवास या विश्राम उनका एक तरुतल मात्र है,
बहु कष्ट सहने से सदा काला तथा कृश गात्र है !
हेमन्त उनको है कंपाता, तप तपाता है तथा—
है झेलनी पड़ती उन्हें सिर पर विषम वर्षा-व्यथा !

(४)

वह पेट उनका पीठ से मिलकर हुआ क्या एक है ?
मानों निकलने को परस्पर हड्डियों में टेक है !

निकले हुए हैं दाँत बाहर, नेत्र भीतर हैं धँसे,
किन शुष्क आँतों में न जानें प्राण उनके हैं फँसे !

(५)

अविराम आँखों से बरसता आसुओं का मेह है,
है लटपटाती चाल उनकी, छटपटाती देह है !
गिरकर कभी उठते यहाँ, उठकर कभी गिरते वहाँ,
घायल हुए से घूमते हैं वे अनाथ जहाँ तहाँ ॥

(६)

हैं एक मुट्ठी अन्न को वे द्वार द्वार पुकारते,
कहते हुए कातर वचन सब ओर हाथ पसारते।
"दाता ! तुम्हारी जय करे, हमको दया कर दीजियो,
माता ! मरे हा ! हा ! हमारी शीघ्र ही सुध लीजियो ॥"

(७)

कृमि, कीट खग, मृग आदि भी भूखे नहीं सोते कभी,
पर वे भिखारी स्वप्न में भी भूख से रोते सभी !
वे सुप्त हैं या मृतक मूर्छित कुछ समझ पड़ता नहीं,
मूर्छा कि मृत्यु अवश्य है, यह नींद की जड़ता नहीं !

(८)

है काँखता कोई कहीं, कोई कहीं रोता पड़ा;
कोई विलाप-प्रलाप करता ताप है कैसा कड़ा।

हैं मृत्यु-रमणी पर प्रणयि-सम वे अभागे मर रहे,
जब से बुभुक्षा कुट्टनी ने उस प्रिया के गुण कहे ॥

(९)

नारी जनों की दुर्दशा हमसे कही जाती नहीं,
लज्जा बचाने को अहो ! जो वस्त्र भी पाती नहीं।
जननी पड़ी है और शिशु उसके हृदय पर मुख धरे,
देखा गया है, किन्तु वे माँ-पुत्र दोनों हैं मरे॥

(१०)

आनन्द-नद में जिस समय थे देश के वासी सभी,
सुर भी तरसते थे जहाँ पर जन्म लेने को कभी।
हा ! आज उसकी यह दशा, सन्ताप छाया सब कहीं,
सुर क्या असुर भी अब यहाँ का जन्म चाहेंगे नहीं॥

शिक्षा की अवस्था

(१)

हा ! आज शिक्षा-मार्ग भी संकीर्ण होकर क्लिष्ट है।
कुलपति-सहित उन गुरुकुलों का ध्यान ही अवशिष्ट है।
बिकने लगी विद्या यहां अब, शक्ति हो तो क्रय करो,
यदि शुल्क आदि न दे सको तो मूर्ख रह कर ही मरो॥

(२)

ऐसी असुविधा में कहो दीन कैसे पढ़ सकें ?
इस ओर वे लाखों अकिञ्चन किस तरह से बढ़ सकें ?



अयोध्यासिंह उपाध्याय

Hindustan Times Press, Delhi.

तरणि-विम्ब तिरोहित हो चला,
गगन मण्डल मध्य शनैः शनैः ॥ ५ ॥

ध्वनि-मयी करके गिरि-कन्दरा,
कलित-कानन केलि निकुञ्ज को ।
मुरलि एक बजी इस काल ही,
तरणिजा-तट-राजित-कुञ्ज में ॥ ६ ॥

क्वणित मञ्जु-विषाण हुए कई,
रणित शृंग हुए बहु साथ ही ।
फिर समाहित-प्रान्तर-भाग में,
सुन पड़ा स्वर धावित-धेनु का ॥ ७ ॥

कियत ही क्षण में बन-वीथिका,
विविध धेनु विभूषित हो गई,
धवल-धूसर-वत्स-समूह भी,
समुद्र था जिनके सँग सोहता ॥ ८ ॥

जब हुई समवेत शनैः शनैः,
सहित गो-गण मण्डलि ग्वाल की ।
तब चली ब्रज-भूषण को लिये,
वह अलंकृत-गोकुल-ग्राम को ॥ ९ ॥

गगन के तल गोरज छा गई,
दश-दिशा वहु शब्दमयी हुई ।

विशद-गोकुल के प्रति गेह में,
बह चला वर-श्रोत विनोद का ॥१०॥
दिन समस्त समाकुल से रहे,
सकल मानव गोकुल ग्राम के ।
अब दिनान्त विलोकत ही बढ़ी,
ब्रज-विभूषण दर्शन-लालसा ॥११॥
सुन पड़ा स्वर ज्यों कल-वेणु का,
सकल ग्राम समुत्सुक हो उठा ।
हृदय यंत्र निनादित हो गया,
तुरत ही अनियंत्रित भाव से ॥१२॥
वय-वती युवती बहु-बालिका,
सकल बालक वृद्ध वयस्क भी ।
विवश से निकले निज गेह से,
स्वदृग का दुख मोचन के लिये ॥१३॥
इधर गोकुल से जनता कढ़ी,
उमगती अति आनंद में पगी ।
उधर आ पहुँची बलबीर की,
विपुल-धेनु-विमण्डित-मण्डली ॥१४॥
ककुभ-शोभित गोरज बीच से,
निकलते ब्रज-वल्लभ यों लसे ।
कदन ज्यों करके दिशि कालिमा,
विलसता नभ में नलिनीश है ॥१५॥

शब्दार्थ

अवसान=अन्त ।

कमलिनी-कुल-वल्लभ=सूर्य ।

विवर्धित=बढ़ा हुआ ।

हरीतिमा=हरियाली ।

विनिमज्जित=स्नान ।

पुलिन=किनारा ।

तिरोहित=लुप्त ।

राजित=सुशोभित ।

क्वणित=गुञ्जित ।

विषाण=सींग (एक बाजा)

समाहित=शान्त, स्थित ।

समवेत=इकट्ठी ।

कुकुभ=दिशा ।

कदन=मैल, अन्धकार

गोपालशरण सिंह

हृदय की वेदना

नित हृदय जलातीं अग्नि सी वेदनायें,
मुझ पर अब सारी आ पड़ी हैं बलायें।
सब तरफ़ मुझे है दृष्टि आता अँधेरा,
निशिदिन रहता है खिन्न ही चित्त मेरा ॥१॥
दिन दिन अब मेरी हो रही क्षीण देह,
सुख-सदन न भाता है मुझे नेक गेह।
मन अब लगता है हा ! कहीं भी न मेरा,
दृग-युग-गृह में है अश्रु-धारा बसेरा ॥२॥
अगणित जग में हैं वस्तुएँ चित्तहारी,
पर तनिक न कोई भी मुझे मोदकारी।
हरदम मुझको है घोर चिन्ता सताती,
अहह तनिक निद्रा भूल के भी न आती ॥३॥
प्रकृति नित नई हो मञ्जु शोभा दिखाती
निज रुचिर छटा से जी सभी का चुराती।
सब तरफ़ अनोखे दृश्य हैं दृष्टि आते,
पर तनिक मुझे वे क्यों नहीं हाय ! भाते ॥४॥
सुरभित बहता है मोददायी समीर,
पुलकित करता है जो सभी का शरीर।

मगर वह न थोड़ा भी मुझे है सुहाता,
मधुर अमृत भी है दुःखियों को न भाता ॥५॥

हृदय हर रहे हैं फूल के फूल नाना,
मन खग-कुल का है मोहता मंजु गाना।
छवि-गिरि-बन बागों की न क्या चित्त-हारी,
मगर न मुझको हैं नेक ये मोदकारी ॥६॥

दुखमय दिन मेरे ये कटें हाय! कैसे?
अब बिलकुल होते ज्ञात ये कल्प जैसे।
अति दुखद मुझे है यामिनी भी कराला,
बस द्रुपद-सुताके चीर सी है विशाला ॥७॥

यदपि सतत मैंने युक्तियाँ की अनेक,
तदपि अहह! तूने शान्ति पाई न नेंक।
उड़कर तुझको ले मैं कहाँ चित्त जाऊँ?
दुखद जलन तेरी हाय! कैसे मिटाऊँ ॥८॥

हृदय नित तुझे मैं खूब हूँ बोध देता,
दुख विफल बुरा है क्यों न तू सोच लेता।
निज मति-धृति क्यों तू व्यर्थ ही खो रहा है,
तनिक निरख तेरा हाल क्या हो रहा है ॥९॥

हृदय! नयन मेरे नित्य अत्यन्त रोते,
अविरल जल धारा से तुझे खूब धोते।

पर शमित न होती नेक दुःखाग्नि तेरी,
जल कर तू होगा छार अब है न देरी ॥१०॥
अतिशय तुम भी क्यों होगये शुष्क प्राण ?
सह सके न तुम क्या आपदा-आर्ति-बाण ?
तुम दृढ़ बन जाओ क्यों वृथा नित्य रोते,
विचलित दुख में हैं क्या कभी धीर होते ? ॥११॥
सतत हृदय में तू वेदना ! जन्म पाती,
रह कर उसमें ही पुष्ट हो खूब जाती ।
पर अहह उसी को है नित्य तू जलाती,
शिव शिव इतनी तू नीचता क्यों दिखाती ॥१२॥

शब्दार्थ

कल्प=सहस्रों वर्ष ।

यामिनी=रात ।

धृत=धैर्य ।

शमित=शान्त ।

फुटकर

गंगावतरण

(१)

इत सुरसरि की धाक धमकि त्रिभुवन भय-पागे ।
सकल सुरासुर विकल विलोकन आतुर लागे ॥
दहिल दसौं दिग-पाल विकल-चित इत उत धावत ।
दिग्गज दिग दंतनि दबोचि दृग भभरि भ्रमावत ॥

(२)

जलसों जल टकराइ कहूँ उच्छलत उमंगत ।
पुनि नीचैं गिरि गाजि चलत उत्तंग तरंगत ॥
मनु कागदी कपोत गोत के गोत उड़ाए ।
लरि अति ऊँचैं उलरि गोति गुथि चलत सुहाए ॥

(३)

इहि बिधि धावति धँसति ढरति ढरकति सुख-देनी ।
मनहु सवाँरति सुभ सुर-पुर की सुगम निसेनी ॥
बिपुल वेग बल विक्रम कैं ओजनि उमगाई ।
हर हणीत हरषाति संभु-सनमुख जब आई ॥

(४)

भई थकित छबि-छकित हेरि हर-रूप मनोहर ।
ह्वै आनाह के प्रान रहे तन धरे धरोहर ॥

भयो कोप कौ लोप चोप औरै उमगाई।
चित चिकनाई चढ़ी कढ़ी सब रोष रुखाई॥

(५)

पाई इस कौ सीस-परस आनंद अधिकायौ।
सोइ सुभ सुखद निवास बास करिबौ मन ठायौ॥
सीत सरस संपर्क लहत संकरहु लुभाने।
करि राखी निज अंग गंग कैं रंग भुलाने॥

(६)

विचरन लागी गंग जटा-गह्लर-बन-बीथिनी।
लहति संभु-सामीप्य-परम-सुख दिननि नसीथिनि॥
इहिं बिधि आनंद मैं अनेक बीते संवत्सर।
छोड़त छुटत न बनत टनत नव नेह परस्पर॥

जगन्नाथदास "रत्नाकर"

श्मशान का दृश्य

कहुँ सुलगति कोउ चिता कहूँ कोउ जाति बुझाई।
एक लगाई जाति एक की राख बहाई॥
विबिध रंग की उठति ज्वाल दुरगंधनि महकति।
कहुँ चरबी सों चटचटाति कहुँ दहदह दहकति॥
कहुँ फूकन हित धर्‌यो मृतक तुरतहिं तहँ आयो।
पर्‌यो अंग अधजर्‌यो कहूँ कोऊ करखायो॥

कहूँ स्वान इक अस्थि-खंड लै चाटि चचोरत ।
कहुँ कारो महि काक ठोर सों ठोकि टटोरत ॥

कहुँ शृगाल कोउ मृतक अंग पर ताक लगावत ।
कहुँ कोउ शव पर बैठि गिद्ध चट चोंच चलावत ॥

जहँ तहँ मज्जा मांस रुधिर लखि परत बगारे ।
जित तित छिटके हाड़ स्वेत कहुँ कहुँ रतनारे ॥

हरहरात इक दिसि पीपल को पेड़ पुरातन ।
लटकत जामें घंट घने माटी के बासन ॥

वर्षाऋतु के काज और हू लगत भयानक ।
सरिता बहत सवेग करारे गिरत अचानक ॥

ररत कहूँ मण्डूक कहूँ झिल्ली झनकारें ।
काक-मंडली कहूँ अमंगल मन्त्र उचारें ॥

भई आनि तब साँझ घटा आई घिरि कारी ।
सनै सनै सब ओर लगी बाढ़न अँधियारी ॥

भये इकट्ठे आनि तहाँ डाकिन पिसाचगन ।
कूदत करत कलोल किलकि दौड़त तोड़त तन ॥

आकृति अति बिकराल धरे कुइला से कारे ।
बक्र बदन लघु लाल नयन जुत जीभ निकारे ॥

कोऊ कड़ाकड़ हाड़ चाबि नाचत दै ताली ।
कोऊ पीवत रुधिर खोपरी की करि प्याली ॥

कोऊ अँतड़ी की पहिरि माल इतराइ दिखावत ।
कोऊ चरबी लै चोप सहित निज अंगनि लावत ॥
कोउ मुण्डनि लै मानि मोद कन्दुक लौं डारत ।
कोऊ रुण्डनि पै बैठि करेजो फारि निकारत ॥

जगन्नाथदास "रत्नाकर" ।

शील

(१)

संग्रह करो करोड़, लुटाओ धन अनगिन्ती ।
ऊँचे आसन बैठि सुनो दासों की बिन्ती ॥
निज प्रभुता के हेतु करो तुम सब कुछ नीका ।
किन्तु शील के बिना सभी है जग में फीका ॥

(२)

कहते हैं कवि लोग शील भारी भूषण है ।
शील-हीन नर भूमि-भार निजकुल-दूषण है ॥
दान, मान, यश, रूप, शूरता, साहस, बाने ।
मोती सम हैं, सगुण शील माला के दाने ॥

(३)

शब्द-कोष में 'शील' शब्द व्यापक है इतना ।
गीता में भी धर्म नहीं है व्यापक जितना ॥

आगे रखकर शील धर्म निज गुण दरसावै ।
गुणवाचक सब नाम अकेला शील बनावै ॥

(४)

शील, नम्रता, सबल सत्यता है अति प्यारी ।
न्याय सहित है दया प्रेम पूरण अविकारी ॥
सदाचार है शील, शील विद्या पढ़ना है ॥
तन-मन-धन से सदा शील आगे बढ़ना है ॥

(५)

शील सत्य, वैराग्य, दण्ड यति का धारण है ।
यही यज्ञ, व्रत, कर्म परमपद का कारण है ॥
यही ज्ञान, विज्ञान, यही है गुण चतुराई ।
ऊँचे कुल का चिह्न, देह-मन की रुचिराई ॥

(६)

सब धर्मों का एक शील है छिपा ख़ज़ाना ।
अवगुण काले नाग, जानते नहीं ठिकाना ॥
धर्मशील के बिना यथारथ धर्म नहीं है ।
शीलवान को सकल स्वर्ग-आनन्द यहीं है ॥

(७)

शील त्याग नर वृथा धर्म का अभिलाषी है ।
अपना अन्तःकरण सत्य इसका साखी है ॥

कपट, क्रोध, अभिमान न हिय से जिनसे छूटा ।
पुण्य उन्होंने कौन जगत् में आकर लूटा ।।

(८)

जिसने आदर सहित गुणी को नहीं बिठाया ।
दीन-प्रणाम विलोकि हाथ कुछ भी न उठाया ।।
मधुर वचन सुन, मधुर वचन जो कभी न बोला ।
विधि ने किया अनर्थ, दिया उसको नर-चोला ।।

(९)

विद्या बढ़ती नहीं जिन्हें दीनों की भाती ।
जिनकी इच्छा कुटिल आप-सुख में है माती ।।
करैं न जो स्वीकार दया अपने छोटे की ।
धर्म करेंगे भला कौन ये लोग कुटेकी !

(१०)

अपने चारों ओर देख दुख दारुण छाया ।
एक विपल भी जिन्हें दुखी का ध्यान न आया ।।
जिन्हें परोदय देख कष्ट होता है भारी ।
क्या है जग को लाभ, हुए जो वे अधिकारी ।।

(११)

निज भाषा का प्रेम, धर्म-रति, देश-भलाई ।
होकर सब सम्पन्न जगत में जिन्हें न भाई ।।

जीभ दबा कर बात जिन्होंने सदा उचारी।
ऐसे ही नर बने हुए हैं, धर्माचारी ॥

(१२)

सब धर्मों को छोड़, शील व्रत ही अब धारो।
शील धर्म है, गिरा हुआ है, इसे उबारो ॥
बीज कपठ का बोय, सत्य-फल कहां मिलैगा ?
अहो! शिला पर कहो कमल किस भांति खिलैगा ?

कामताप्रसाद गुरु।

सिद्धार्थ के मन पर वाह्य जगत का प्रभाव

बोलि उठ्यो सिद्धार्थ "अहो! बन कुसुम मनोहर!
जोहत कोमल खिले मुखन जो उदित प्रभाकर,
ज्योति पाप हरषाय श्वास-सौरभ संचारत,
रजत, स्वर्ण, अरुणाभ नवल परिधान सँवारत।
तुम में ते कोउ जीवन नहिं माटी करि डारत,
नहिं अपनो हठि रूप मनोहर कोउ बिगारत।
चाहत भेदन विपत् पित्रत सो पवन अधाई—
शीतल नीरधि नील अंक जो आवति परसति।
मंजु मलय गिरि गंध भार भरि मंद मंद गति,
जानत ऐसो भेद कौन जासौं, हे प्रिय द्रुम!

अंकर तें फल काल ताइँ हो रहत तुष्ट तुम ?
पंख सरीखे पातन सों मर्मर ध्वनि काढ़त,
अट्टहास सों हँसत हँसत तुम जग में बाढ़त।
तरु डारन पै बिहरन-होर, हे बिहंग गन !—
शुक, सारिका, कपोत, शिखी, पिक, चातक, खंजन
तिरस्कार निज जीवन को नहिं तुमहु करत हौ—
अधिक सुखन की आस मारि तन मन न मरत हौ।"

रामचन्द्र शुक्ल।

आश्वासन

(१)

वे उठते भी हैं अवश्य जो गिरते हैं।
दुर्दिन के हो बाद सुदिन सब के फिरते हैं॥
देखे दारुण दुःख वही नर फिर सुख पावे।
अवनति के उपरान्त घड़ी उन्नति की आवे॥
रवि रात बीतने पर प्रगट होते प्रातः समय में।
बस यही सोचकर आप भी धीरज रखिये हृदय में॥

(२)

होता प्रथम बसन्त ग्रीष्म ऋतु फिर आती है।
चले पसीना अंग आग सी लग जाती है॥

पत्ते फल या फूल बिना जल जल जाते हैं।
पशु पक्षी भी घोर घाम से घबराते हैं॥
फिर शीघ्र देखते देखते हरी भरी होती मही।
आती वर्षा ऋतु भली सुख देती तत्काल ही॥

(३)

इतने बड़े अनन्त तेज की राशि दिवाकर।
तपते तीनों लोक बीच, पूरित हो घर घर॥
किन्तु समय पर राहु उन्हें ग्रस लेता जाकर।
कुछ कर सकते नहीं हज़ारों यद्यपि हैं कर॥
वह पहले होते अस्त या ग्रस्त समस्त प्रभा-रहित।
फिर होते मुक्त प्रकाश से युक्त पूर्व में अभ्युदित॥

(४)

जीव मरण के बाद जन्म पाता है देखो।
कृष्णपक्ष के बाद शुक्ल आता है देखो॥
चलती है हेमन्त हवा जब ज़ोर दिखाती दिखाती।
तब होता पतझाड़ न पत्ती रहने पाती॥
फिर वही वृक्ष होते हरे नवपल्लव शोभित सभी।
बस, इसी तरह होंगे सुखी उन्नति- युत हम भी कभी॥

रूपनारायण पाण्डेय।

स्वामीजी

इसे ही कहते हैं वैराग्य ?
तो विरागता के सचमुच ही फूटे समझें भाग्य।
निर्मल बसन बिगाड़ा उस पर धरा सुनहरी रँग,
लज्जित हुआ जाल माया का देख जटा का ढँग।
क्रोध-कमंडलु, मोह माल, कर लिया द्रोह का दण्ड,
लोभ लँगोट बाँध फैलाते हो प्रचण्ड पाखण्ड।
तन में भस्म रमाई, करके भस्म सभी घर-बार,
अब चिमटा ले निकल पड़े हो करने जग उद्धार।
घर-घर टुकड़े माँग रहे हो तप के बल हो धन्य!
दर दर नित धक्के खाते हो अहो कष्ट तप-जन्य!
चोरी, जुवा, लफंगेपन में हो तुम गुरु घंटाल,
गाँजा, भँग, अफीम, चरस रस मदिरा के हो काल।
संसृति में खुद फंसे हुए हो हमें दिखाते मुक्ति!
धन्य धन्य अध्यात्म शक्ति को, धन्य मुक्ति को युक्ति!
बहुत हो चुकी गुण्डा-लीला अब इससे मुँह मोड़,
हुवा जो, अब बन मनुष्य तू बनमानुस पन छोड़।

बदरीनाथ भट्ट।

सद्गुरु-प्रार्थना

जीवन नौका बहती है,

तव कृपा सुरसरी-धार में, जीवन-नौका बहती है।
नहीं डांड पतवार यहाँ है, बे सुध खेवन हार यहां है।
तुझ पर दार मदार यहाँ है, यों हँसती रहती है।
जीवन-नौका बहती है ॥ १ ॥

रुष्ट प्रकृति का हास यहाँ है, यम-यातना विलास यहां है।
तथा मृत्यु उपहास यहां है, पर सब कुछ सहती है।
जीवन-नौका बहती है ॥ २ ॥

पार लगी तो भर पावेगी, डूब गई तो तर जावेगी।
निश्चय अपने घर जावेगी, आशा यों कहती है।
जीवन-नौका बहती है ॥ ३ ॥

बदरीनाथ भट्ट।

उद्बोधन

हिमालय सर है उठाये ऊपर, बगल में झरना झलक रहा है।
उधर शरद के हैं मेघ छाये, इधर फटिक जल छलक रहा है॥
इधर घना बन हरा-भरा है, उपलपे तरुवर उगाया जिसने।
अचम्भा इसमें है कौन प्यारे, पड़ा था भारत जगाया उसने॥

कभी हिमालय के शृङ्ग चढ़ना, कभी उतरते हैं श्रम से थक के।
थकन मिटाता है मञ्जु झरना, बटोही छाया में बैठे थक के॥
गगन-समीपी हिमाद्रि शिखरों, घरों में जलती है दीप-माला।
यही अमरपुर उधर हैं सुरगण, इधर रसीली हैं देव बाला॥
गिरीश भारत का द्वार पट है, सदा से है यह हमारा संगी।
नृपति भगीरथ की पुण्यधारा, बगल में बहती हमारी गंगी॥
बतादे गंगा कहाँ गया है, प्रताप पौरुष विभव हमारा।
कहां युधिष्ठिर कहां हैं अर्जुन, कहाँ है भारत का कृष्ण प्यारा॥
सिखादे ऐसा उपाय मोहन, रहें न भाई पृथक हमारे।
सिखादे गीता की कर्म शिक्षा, बजा के बंसी सुना दे प्यारे॥
अंधेरा फैला है घर में माधो, हमारा दीपक जला दे प्यारे।
दिवाला देखो हुआ हमारा, दिवाली फिर भी दिखा दे प्यारे॥
हमारे भारत के नवनिहालो, प्रभुत्व वैभव विकाश धारे।
सुहृदय हमारे हमारे प्रियवर, हमारी माता के चख के तारे॥
न अब भी आलस में पड़ के बैठो, दशों दिशा में प्रभा है छाई।
उठो अंधेरा मिटा है प्यारे! बहुत दिनों पर दिवाली आई॥

मन्नन द्विवेदी।

ईश्वर का गुणगान

विमल इन्दु की विशाल किरणें प्रकाश तेरा बता रही हैं।
अनादि तेरी अनन्त माया जगत को लीला दिखा रही हैं॥
प्रसार तेरी दया का कितना ये देखना हो तो देखे सागर।
तेरी प्रशंशा का राग प्यारे तरंग-मालायें गा रही हैं॥
तुम्हारा स्मित हो जिसे निरखना वो देख सकता है चन्द्रिका को।
तुम्हारे हंसने की धुन में नदियां निनाद करती ही जा रही हैं॥

जयशङ्करप्रसाद।

क्यों यह सोच करै मन मूढ़ अरे दिन ये दुख के टरि हैं कब।
त्यों दुखदायक दीनन के यह पापी कबैं अघ सों मरि हैं दब॥
मान ले तू सिगरे जग मीत है एकहु ना हमरे अरि हैं अब।
जादिन दैव दया करि है तब तादिन 'मीर' मया करि हैं सब॥

सैयद अमीरअली 'मीर'

स्वदेश

(१)

जाना नहीं अच्छा कभी जैनियों के मन्दिर में;
किसी भांति अच्छी नहीं कृष्ण की उपासना।
शंभु का स्मर्ण किये होना जाना है कहो क्या;
राम नाम लेने से क्या पूर्ण होगी कामना।

बुरे हैं मुसलमान हिन्दू बड़े काफिर हैं,
ऐसी हो परस्पर में बुरी जहाँ भावना ।
प्रेम हो न आपस का एका फिर क्यों कर हो ,
क्यों न भोगे हिन्द माता नई नई यातना ।

(२)

देश मेरा देश का मैं देश मेरा जीव प्रान,
मेरा सम्मान मेरे देश की बड़ाई में ।
जियूंगा स्वदेश हित मरूंगा स्वदेश काज,
देश के लिये न कभी करूंगा बुराई में ।
भीषण भयंकर प्रसंग में भी भूल के भी,
भूलूंगा न देश-हित राम की दुहाई में ।
जब लौं रहेगी सांस सर्बस्व भी लुटा दूंगा,
ईश को भी झुका लूंगा देश की भलाई में ।

शब्दार्थ

गंगावतरण

भभरि=भय से रोंगटे खड़े होना।

उत्तंग=ऊंचा।

कागदी=कागज के बने हुए।

गोत के गोत=झुण्ड के झुण्ड।

गोति=गोता खाकर।

उलरि=उलट कर।

नसेनी=सीढ़ी।

ओजनि=उत्साह।

उमगाई=प्रसन्न।

हेरि=देखकर।

छबि-छकित=शोभा से मुग्ध।

आनहि=दूसरे के।

चोप=उत्साह।

सम्पक=साथ।

गह्वर=गुहा।

समीप्य=निकटता।

शब्दार्थ

श्मशान का दृश्य

मृतक=मुर्दा ।

करखायो=कोयला बना हुआ ।

अस्थि-खण्ड=हड्डी ।

रतनारे=लाल ।

करारे=किनारे ।

आश्वासन

कर=हाथ, किरण ।

उद्‌बोधन

फटिक=स्वच्छ ।

उपल=पत्थर ।

नवनिहालो=युवको ।

चख=आँख ।

ईश्वर का गुणगान

स्मित=स्मृति ।

स्वदेश

प्रसंग=अवसर ।

—:*:—

२५

घट=हृदय।

पट्टन=नगर।

२७

अस=ऐसा।

२८

दुरदिन=बुरे दिन।

हित=मित्र।

धीम=मन्दा।

याचकता=मँगतापन।

२९

मधुकरी=रोटी।

संतत=हमेशा।

सर=तालाब।

गजराज=हाथी।

सलिल=जल।

३०

पंक=कीचड़।

नाद=बाजे की ध्वनि।

३१

जनायो=बताया।

सकल=सारा।

सोधि=पहचाना।

पाहन=पत्थर।

पयोधि=समुद्र।

सदन=घर।

कुरंग=हिरन।

अपत=बिना पत्तों की।

३२

दई=परमात्मा।

चखनि=आँखों पर।

कनक=स्वर्ण, धतूरा।

३६

पावस=बादल।

३८

जुहों=जो।

हिए=छाती पर।

किरीट=मुकट।

जुन्हाई=सुन्दरता।

प्रभा=चमक।

३९

चन्दनमई=चाँद की सी

ऊधो=कृष्ण ।

रागत=गाते हैं ।

४०

समीर=हवा ।

४१

अपावन=अपवित्र ।

ठाकुर=बड़े आदमी ।

दुख द्वन्द=बड़ा दुख ।

पुरबले=पहले जन्म के ।

४२

लेखा=तरीका ।

४३

बोझो=भारी हो रही है ।

.५

मँझार=बीच में ।

पुरन्दर=इन्द्र ।

कालिन्दी=जमना ।

लकुटी=लकड़ी ।

तड़ाग=तालाब ।

करीर=कैर के दरख्त ।

नयरे=क़रीब ।

ठैया=स्थान ।

सिगरी=सब ।

चेटक=जादू ।

जदुरैया=कृष्ण ।

४६

अखण्ड=जो टूट नहीं सकता ।

अङ्ग=छाती, पेट ।

४७

राव=अमीर ।

रङ्क=ग़रीब ।

४८

घन=बादल ।

उदधि=समुद्र ।

तोय=पानी ।

उनयो=छाया हुआ ।

पारखी=परखनेवाले ।

४६

अनरस=बैर ।

५१

ब्योंडा=डंडा ।

हनन=मारना ।

५२

नव=नई।

उज्ज्वल=चमकदार ।

छहरति=उछलती हैं।

सोपान=सीढ़ी ।

सुभग=सुन्दर ।

मज्जन=स्नान ।

परस=छूना ।

५३

ललकि=चाव से ।

ध्वजा=झंडी ।

धौंसा=नागारा ।

करजुगल=दोनों हाथों से ।

अम्बुज=कमल ।

वारिधि=समुद्र ।

ससिमुख=मुखचन्द्र ।

कुसुमन=फूलों से ।

दीठि=निगाह ।

थर=स्थान ।

५४

बिनसाई=नाश होगई।

आरज=दीन ।

सहसाज=सब के साथ ।

५६

रम्य=सुन्दर ।

द्रुमलता=बेल ।

समग्र=सब ।

सत्यकर्मनिष्ठ=अच्छे काम करनेवाला

धनाढ्य=अमीर ।

कृषिकार=किसान ।

५७

काम=महनत ।

मृदुल=मधुर ।

शेष=बाक़ी ।

स्वत्व=अधिकार ।

निश्शेष=सारा ।

गेह=घर ।

सम्पन्न=परिपूर्ण ।

स्वच्छन्द=आज़ाद ।

उपहार=भेट ।

शुश्रुषा=सेवा ख़ातिर ।

५८

विभव=दौलत ।

अनुराग=प्रेम ।

विश्व-निकाई=संसार सुन्दरता ।

आराधना=पूजा ।

५९

शैलतटी=पहाड़ी घाटी ।

प्रेमसुधा=प्रेम का अमृत ।

ठाम=स्थान ।

सौरभ=खुशबू ।

रव=आवाज़ ।

सुरकानन=स्वर्ग का बन ।

विमल=साफ ।

अनुरूप=योग्य ।

अहङ्कार=अभिमान ।

आसक्त=मोहित ।

६०

तिलाञ्जलि=विदा ।

चारु=सुन्दर ।

विसालन=बड़े बड़े ।

मृदुमर्मर=मधुर ध्वनि ।

विहङ्ग=पक्षी ।

पावन=पवित्र ।

खाद्य=खाने की चीज़ ।

अल्पकालिक=थोड़े दिन जीने वाले ।

प्रकम्प परिपूर्ण=काँपते हैं ।

विषारी=ज़हरीला ।

दृढ़ाङ्ग=दृढ़ शरीर ।

वारिद=बादल ।

विस्तीर्ण=फैला हुआ ।

स्रष्टा=उत्पन्न करने वाला ।

६४

विद्यमान=मौजूद ।

रविबिम्ब=सूर्य मंडल ।

निशिताप=रात्रिका अन्धकार ।

महत्व परिपूरित=मुख्य ।

६५

चिरकृतज्ञ=बहुत अहसान माननेवाला

परहितोद्यत=दूसरे की भलाई को तैयार ।

पुंगव=श्रेष्ठ ।

मनोज्ञ=सुन्दर ।

६६

सिन्धुर दन्त=हाथी दांत

कमठ=कछुवा

कुलिश=हीरा

शायक=तीर

हुताशन=अग्नि

भव पराभव=हार जीत

मुद=प्रसन्न

सुधा=अमृत

६७

विटप=वृक्ष

छिन्न=कटा

पादप=वृक्ष

जलद=बादल

सस्य=खेती

सूप=छाज

६८

निशीथिनी=रात्रि

तुषार धवल नग=बरफ से सफेद पहाड़।

निर्झर=झरना

६८

द्रुमों=वृक्षों

हरिताभ=हरे रङ्ग की

मारुत=वायु

क्रीड़ित=खेलते हुए

मधुप=भौंरे

अनिमेष=एक टक

७२

परिहृत वसना=नग्न

भूपतिता=ज़मीन में पड़ी हुई

नियतिच्छिता=अभागी

जर्जरिता=टूटी हुई

पददलिता=पैरों से रोंदी हुई

मुक्तकुन्तला=खुले बालों वाली

अलि=सखि

निष्ठुर=कठोर

विपिन=वन

दुःख विधुरा=दुःख से संतप्त

अकरुण=रूखा

७३

पीन=मोटी

संसृति=संसार

अवनतवदना=सिर झुकाये

७४

वाञ्छा=इच्छा

७५

निस्पृह=बिना ईर्ष्या

चन्द्रोदय=चाँद का उगना

७६

दुर्भिक्ष=अकाल

रव=शोर

प्रभञ्जन=टूटने से

आवास=रहने की जगह

तरुतल=दरख्त के नीचे

७७

अविराम=लगातार

कातर=करुणाजनक

कीट=कीड़े

खग=पक्षी

७८

रमणी=स्त्री

प्रणयी=प्रेमी

सङ्कीर्ण=संकुचित

क्लिष्ट=कठिन

अवशिष्ट=बाक़ी

अकिञ्चन=ग़रीब

७९

छात्र=विद्यार्थी

वाग्वीर=बहुत बोलने वाले

८०

अभियोग=मुक़दमे

भृत्यता=नौकरी

सूक्ति=कहावत

अनुचर=चेले

८२

अवसान=अन्त

लोहित=लाल

कमलिनी कुल वल्लभ=चन्द्रमा

विवर्धित=बढ़ा हुआ

अचल=पहाड़

८३

केलिनिकुञ्ज=क्रीड़ा स्थान

प्रान्तर=शहर की दीवार

कियत=कुछ

वीथिका=पगडंडी

८४

निनादित=बज उठा।

नलिनीश=चन्द्रमा।

८६

वेदना=दुःख।

खिन्न=दुःखित।

मञ्जु=मनोहर।

रुचिर=सुन्दर।

८७

कल्प=ब्रह्मा का दिन जो लाखों बरस का होता है।

यामिनी=रात्रि।

कराला=भयङ्कर।

धृति=धारणा।

अविरल=लगातार।

८८

शमित=शान्त।

छार=राख।

अर्ति=दुःख।

८९

सुरसरि=गङ्गा।

भय पागे=भयभीत हुए।

विलोकन=देखने।

दिक्पाल=पृथ्वी को धारण करने वाले हाथी।

९०

चोप—

संपर्क=स्पर्शन।

गह्वर=गहरे।

परस्पर=आपस में।

ज्वाल=अग्नि।

करखायो=काला।

९१

शव=मृत शरीर।

रतनारे=लाल।

करारे=किनारे।

ररतु=टरटेराना।

बक्र=टेढे।

९२

कन्दुक=गेंद।

हिन्दी काव्य-कुंज

९३ ९८

[illegible]

१००

[illegible]

"हिन्दुस्तान टाइम्स" प्रेस,
दिल्ली